ओ३म्

स्वस्ति पन्थामनुचरेम ॥

हम कल्याण मार्ग के पथिक बनें।

संवर्द्धिनी

सत्यं वद | विशेषाङ्क - 15 | धर्मं चर

सम्पादक :-

आचार्य श्याम

दूरभाष - 09811064932, 09555534381

सह-सम्पादक :-

डा0 कर्णदेव शास्त्री

दूरभाष - 09810322989

संरक्षक :-

सतीश मेहता, सुनील कोहली, रवि कोहली
कृष्णा झॉब, नीलम सूद, सरला सुखीजा

कार्यालय :-

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

जी-150, नारायण विहार, नई दिल्ली-28

दूरभाष - 09350733444, 09350233885

प्रधान कार्यालय :-

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

ए 1/148 बी, मधु विहार, नई दिल्ली-59

E-mail - samvardhini@yahoo.co.in
dharm.samvardhini@gmail.com

Website - www.dharmsamvardhini.com

कहाँ क्या पढ़ें ? .....

1.	प्रभु-कृपा	पृष्ठ-2
2.	सम्पादकीय	पृष्ठ-3
3.	वेदामृतम्	पृष्ठ-5
4.	महर्षि क्या चाहते थे ?	पृष्ठ-25
5.	महर्षि वेदव्यास उवाच	पृष्ठ-28
6.	भारतीय-संस्कृति की झांकी	पृष्ठ-29
7.	अभिनव भारत	पृष्ठ-31
8.	सफलता के छः शत्रु	पृष्ठ-32
9.	स्वास्थ्य नियमावली	पृष्ठ-35
10.	वेद में मानवता का सन्देश	पृष्ठ-36
11.	प्रसन्नता जीवन के लिये आवश्यक	पृष्ठ-38
12.	पुनर्निमाण करना है	पृष्ठ-40
13.	मनु उवाच	पृष्ठ-40
14.	शिक्षा की सार्थकता	पृष्ठ-41
15.	उस रोगी को कौन बचाये ?	पृष्ठ-42
16.	भारतीय वाङ्मय में ज्योतिष ...	पृष्ठ-43
17.	स्वर्ग-नरक कहाँ ?	पृष्ठ-45
18.	हींग - एक प्रकृति प्रदत्त महौषधि	पृष्ठ-46
19.	सच्चा भक्त कौन ?	पृष्ठ-48

ओ३म्

* प्रभु-कृपा *

तुञ्जे तुञ्जे य उत्तरे, स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम्॥

(ऋ0 1/7/7)

[मधुश्छन्दा ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः]

- पद्यार्थ -

तू दाता देता ही जाता, मैं भिक्षुक लेता ही जाता
देने की सीमा न तेरे, लेने का कुछ अन्त न मेरे॥

प्रभो ! उऋण कैसे हो पाऊँ, किन दामों में मूल्य चुकाऊँ।
केवल तेरी महिमा गा-गा, कर लेता हूँ जी कुछ हलका॥

कितना, कब तक, चाहे गाऊँ, कभी नहीं जी-भर गा पाऊँ।
आँखों से दरिया बह जाता, रुँधता कण्ठ मूक रह जाता॥

क्या जानूँ ? बे-बस हूँ कितना, फिर भी इसमें रस है इतना।
आ जा मेरे दिल के राजा, आँखों में बन ज्योति समा जा॥

दो शरीर हों, एक प्राण हो, दो होकर भी एक जान हो।
करता वन्दन नत-शिर होकर, आश हृदय में यही जगाता॥

डा0 सत्यकाम

सम्पादकीय



महर्षि चाणक्य ने सुख का मूल **धर्म** माना है। उनकी मान्यता के अनुसार यदि मनुष्य सुख प्राप्त करने की इच्छा संजोये हुए है, तो उसे अपने जीवन में धर्म का संग्रह करना चाहिये। परन्तु यहां एक प्रश्न यह भी उत्पन्न हो जाता है कि – **'धर्म क्या है ?'** क्या हम जिसको हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध आदि अनेकानेक नामों से जानते हैं, वह धर्म हैं या अन्य कुछ और ? क्योंकि इन सभी धर्मों में अपने धर्म की श्रेष्ठता तथा दूसरों की न्यूनताओं को प्रदर्शित करने का कार्य किया जाता है। कोई भी सम्प्रदायी दूसरे के धर्म को अच्छा नहीं कहता। सभी अपने धर्म की प्रशंसा करते हैं। संसार में जितने भी उपद्रव होते हैं, उनमें अधिकांशतः धर्म के नाम पर किये जाते हैं। पिछले दिनों टी0वी0 की डिबेट में भाजपा प्रवक्ता नूपुर शर्मा ने एक वाक्य मुख से क्या निकाला कि – जेहादियों की फौज़ ने भारत में विरोध की आग लगा दी। गले काटने के फरमान जारी होने लगे। इस आग की चिनगारियां मात्र भारत में ही उत्पन्न नहीं हुईं, अपितु अनेक देशों ने भाजपा प्रवक्ता के विरोध में अपनी प्रतिक्रियायें दीं। उसके कुछ दुष्परिणाम भी देखने को मिले। यहां तक कि भारत में जिनको सर्वोच्च संस्था का प्रमुख प्रतिनिधि स्वीकार किया जाता है, जिनकी जिम्मेदारी सत्य की तुला पर न्याय करने की है, वे भी इसके दुष्परिणामों से अछूते नहीं रह सके और उन्होंने वे टिप्पणियां दीं, जो स्वयं न्याय प्रक्रिया पर वा उनकी योग्यता पर प्रश्नचिह्न खड़ा करती हैं। इस प्रकार की विसङ्गतियां क्या मन में उपद्रव और अशान्ति को जन्म नहीं देतीं ? तब क्या हमें सोचने पर मजबूर नहीं होना चाहिये कि ऐसा कोई सूत्र अन्वेषण किया जाये, जो विश्व में सर्वत्र उपद्रवों को समाप्त करने तथा शान्ति स्थापित करने में सक्षम हो सके।

जब इस विषय में हम और आप विचार करेंगे और प्राचीन ऋषि-मुनियों के अनुभवात्मक विचारों द्वारा शान्ति का सूत्र खोजने का प्रयत्न करेंगे, तो हमें ज्ञात होगा कि ये धर्म नहीं, अपितु धर्म के नाम पर अपना-अपना स्वार्थ सिद्ध करने वाली दुकानें हैं। यदि धर्म की उचित परिभाषा, उचित व्याख्या समझनी है, तो उन सूत्रों को समझना पड़ेगा, जिसको आदिराजा मनुजी ने अपने धर्मशास्त्र में धर्म की स्थापना के लिये उद्घोषणात्मक वाक्य के रूप में उपस्थित किया है, वह है – **'वेदोऽखिलो धर्म मूलम्'**। अर्थात्- ऐ संसार के लोगो ! यदि तुम धर्म के वास्तविक स्वरूप को जानने की इच्छा रखते हो और धर्म अर्जित कर सर्वाङ्गीण सुख प्राप्त करना चाहते हो, तो वह धर्म का मूल तुम्हें ईश्वरीयज्ञान वेदों द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, अन्य किसी प्रकार से नहीं।

प्रिय पाठकगण ! हम जिन-जिन को अब तक धर्म माने बैठे हैं, वे धर्म नहीं; यदि धर्म है तो मात्र एक ही है, वह है - **'वैदिक धर्म'।** धर्म वह शाश्वत भाव है जो सदा नित्य नवीन बना रहता है। जो किसी भी जड़ वा चेतन पदार्थ की आत्मा के समान है। जैसे आत्मा के बिना शरीर की कल्पना व्यर्थ है, उसी प्रकार धर्म के बिना सुख-शान्ति की कल्पना स्वप्नवत् है। अरे ! क्या गुण के बिना गुणी का कोई अस्तित्त्व हो सकता है? क्या ताप-प्रकाश-गति के बिना अग्नि को अग्नि कहना उपयुक्त हो सकता है ? यदि नहीं.., तो स्मरण रखिये कि संसार में धर्म एक है, उसका नाम है - **'वैदिकधर्म'।**

हमारी **'धर्म संवर्द्धिनी सभा'** वैदिक धर्म के मन्तव्यों को संवर्द्धित करने का एक सशक्त माध्यम है। ये संस्था बालकों-वृद्धों की सेवा के कार्य में विगत अनेकों वर्षों से कार्य में संलग्न है। इस संस्था द्वारा बालक-बालिकाओं के अन्तर्मन में श्रेष्ठ संस्कारों का वपन करने के लिये वर्ष में अनेकों शिविरों का आयोजन किया जाता है, जिसमें बालकों को शारीरिक, मानसिक, आत्मिक, पारिवारिक, सामाजिक व राष्ट्र की उन्नति कैसे हो, उन सूत्रों को सिखलाने का विशेष प्रयत्न किया जाता है। हम प्रायः कभी-कभी नई पीढ़ी को देखकर निराशा का अनुभव करते हैं। हमारी दृष्टि में विश्वव्यापी दृष्टि रखने वाले को इस प्रकार की चिन्तना करनी भी चाहिये। पर क्या कभी हमने इस निराशा के विचार में इस बात को भी सोचने का प्रयास किया कि हमारी पीढ़ी को बचपन से यौवनकाल तक क्या परोसा जा रहा है ? क्या हम वे संस्कार दे पा रहे हैं, जो उनमें शीलता- नैतिकता की समृद्धि कर सकें। यदि नहीं, तो मात्र पत्तों पर पानी डालने से पौधा जीवित नहीं रह पायेगा। उसके लिये हमें पादप की मिट्टी में जल और खाद डालने का प्रयत्न करना पड़ेगा। बस, इसी सिद्धान्त को आधार बनाकर धर्म संवर्द्धिनी सभा 'संस्कृत-संस्कृति रक्षा शिविरों' का आयोजन कर बालकों में मन में शुभ संस्कारों का बीज वपन करना चाहती है, उसके लिये हम निरन्तर प्रयत्नशील हैं और जीवनभर प्रयत्न करते रहेंगे। इसके अतिरिक्त यह संस्था रविवारीय बालकक्षा, होम्योपैथिक-ऐलोपैथिक चिकित्सालय संचालित कर ग़रीबों की सेवा में संलग्न है। सिलाई केन्द्र, कम्प्यूटर कक्षाओं के माध्यम से भी निर्धनों की सेवा करना, इस संस्था का प्रमुख कार्य है। ये सभी सेवाकार्य निःशुल्क किये जाते हैं। इस कार्य में वे ही लोग कार्यरत हैं, जिन्हें ऐषणा तृप्त करने की किञ्चित् भी आकांक्षा नहीं है। निष्काम कर्म करना इस संस्था की नियति है। हां, जो सेवा के प्रकल्प हैं, उनमें अधिकांश वे लोग इस संस्था से जुड़े हैं, जिनमें निष्काम कर्म करने की भावना विद्यमान है।

यदि आप चाहते हैं कि हमारी भी आहुति धर्मयज्ञ में लगे, तो तन-मन-धन से आप इस संस्था का सहयोग करें; जिससे यह संस्था वैदिकधर्म के सिद्धान्तों और सुधार के कार्यों को और अधिक गति-प्रगति दे सके। यदि आपने ऐसा किया तो यही आहुति आपके पुण्य के संवर्द्धन का आधार बनेगी। ❐

वेदामृतम्

आचार्य श्याम

अश्मन्वती रीयते सꣳ रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीमोऽशिवा ये असञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥

(यजुर्वेद 35/10)

(ऋषिः सुचीकः। देवता विश्वेदेवाः। छन्दः निचृत् त्रिष्टुप्। धैवतः स्वरः)

पदच्छेदः –

अश्मन्वती। रीयते। सम्। रभध्वम्। उत्। तिष्ठत। प्र। तरत। सखायः। अत्र। जहीमः। अशिवाः। ये। असन्। शिवान्। वयम्। उत्। तरेम। अभि। वाजान्॥

शब्दार्थः –

(अश्मन्वती) चिकने व तीक्ष्ण पत्थरों वाली नदी **(रीयते)** बह रही है **(सम्)** अच्छी प्रकार से **(रभध्वम्)** प्रारम्भ करो **(उत्-तिष्ठत)** उठो, जागो, प्रयत्न करो **(प्र)** प्रकृष्टता से **(तरत)** तैरो, अर्थात् इस नदी को पार कर जाओ **(सखायः)** सखा-भाव के साथ व्यवहार करते हुए **(अत्र)** यहाँ, अर्थात् इस संसार में **(जहीमः)** छोड़ दो, त्याग दो **(अशिवाः)** अकल्याणकारी पदार्थों को, मनोविकारों को वा दुष्कृत्यों को **(ये)** जो **(असन्)** विद्यमान् हैं **(शिवान्)** उन कल्याणकारी **(वयम्)** हम सब **(उत्-तरेम)** इस नदी को पार कर लें **(अभि)** सब प्रकार की या सब ओर से **(वाजान्)** शक्तियों के द्वारा॥

भावार्थः –

हे संसार के मानवो ! यह संसार पत्थरोंवाली नदी के समान है। तुम इस नदी को पार करने के लिये निरन्तर प्रयत्न करो। तुम प्रकृष्टता से अपनी चेतना को जाग्रत कर, सखाभाव के साथ व्यवहार करते हुए उनका अवलम्बन लेकर वा उनके सहायक बनकर, इस नदी को पार करो। परन्तु नदी पार करने से पूर्व जितने भी अकल्याणकारी गुण-कर्म-स्वभाव व पदार्थ हैं, उन सबको त्याग दो और उन कल्याणप्रद वस्तुओं व शक्तियों को धारण करो, जो नदी पार कराने में सहायक हों। इस प्रकार तुम इस चिकने व तीक्ष्ण पत्थरों वाली तथा तीव्र वेग वाली नदी को पार कर सकते हो।

व्याख्या –

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि **'सुचीक'** है। सुचीक शब्द **'सु'** उपसर्ग के साथ **'चीक् आमर्षणे'** धातु के योग से बना है, जिसका अर्थ है – स्पर्श करनेवाला, सानिध्य करने वाला। मन्त्र का देवता **'विश्वेदेवा'** है। तब भाव बना कि – जो विश्व के देवताओं का सानिध्य कर, स्वयं देव बनने का पुरुषार्थ कर, अपने को विश्व के देवों की पंक्ति में खड़ा करने के लिए सदैव उद्यत रहता है, वही **'सुचीक'** बन सकता है।

आज हम जिस वेदमन्त्र का आलोडन कर रहे हैं, यह मन्त्र यजुर्वेद का है। ठीक, इसी भाव वाला मन्त्र हमें ऋग्वेद और अथर्ववेद में भी कुछ शब्दान्तर के साथ प्राप्त होता है। यथा –

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः। अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः ये शिवान् वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥

(ऋ0 10/53/8)

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः। अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान् ॥

(अथर्व0 12/2/26)

प्रस्तुत दोनों मन्त्रों की जब यजुर्वेद के मन्त्र के साथ तुलना करने का प्रयत्न करेंगे, तो हमें ज्ञात होगा कि ऋग्वेद के मन्त्र और यजुर्वेद के मन्त्र में अत्यन्त साम्य है। प्रत्यय भेद से एक-दो शब्दों की प्रकृति कुछ भिन्न-सी द्योतित होती है, पर मन्त्रार्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं। पर जब हम यजुर्वेद के मन्त्र की अथर्ववेद के मन्त्र के साथ तुलना करेंगे तो यजुर्वेद के मन्त्र की प्रथम पंक्ति में **'उत्तिष्ठत'** शब्द के स्थान पर अथर्ववेद में **'वीरयध्वम्'** का, तथा दूसरी पंक्ति में **'अशिवा'** या **'अशेवाः'** के स्थान पर **'दुरेवा'** और **'अनमीवा'** शब्द का प्रयोग हुआ है। भावात्मक दृष्टि से इन मन्त्रों में बहुत अन्तर द्योतित नहीं होता, यदि थोड़ा-बहुत अन्तर द्योतित होता है तो उसका प्रमुख कारण पृथक्-पृथक् वेद के पृथक्-पृथक् ऋषियों द्वारा वेद ज्ञान का प्राकट्य ही है।

यजुर्वेद का ज्ञान हम सब मनुष्यों को **'वायु'** ऋषि के द्वारा प्राप्त हुआ; जबकि ऋग्वेद का ज्ञान **'अग्नि'** ऋषि के द्वारा तथा अथर्ववेद का ज्ञान **'अङ्गिरा'** ऋषि के द्वारा प्राप्त हुआ। जैसे एक ही सत्य को जब पृथक्-पृथक् लोगों द्वारा उद्घाटित किया जाता है, तो भाव की एकात्मता होने पर भी शब्दों में वैभिन्य अवश्य दिखाई देगा। इसी प्रकार जिन-जिन ऋषियों के हृदय में पवित्र वेदमन्त्रों का प्राकट्य हुआ, वे सब पृथक्-पृथक् ऋषि हैं। जैसे यजुर्वेद के मन्त्र का ऋषि **'सुचीक'** है, तो ऋग्वेद के मन्त्र का ऋषि **'देव'** तथा अथर्ववेद के मन्त्र का ऋषि **'भृगु'** है। इसी प्रकार यजुर्वेद के मन्त्र का देवता **'विश्वेदेवा'** है, तो ऋग्वेद के मन्त्र का देवता **'अग्नि'** तथा अथर्ववेद के मन्त्र का देवता **'मृत्यु'** है। तीनों मन्त्रों में शब्दान्तर होने के बाद भी जो सन्देश वेदमाता द्वारा दिया जा रहा है, उसमें कोई विशिष्ट अन्तर परिलक्षित नहीं होता। क्योंकि प्रत्येक जीवात्मा गतिमान् है, क्रियाशील है, कुछ न कुछ कर्म करता ही रहता है। अन्य योनियों की अपेक्षा से वह ज्ञान-प्रकाश एवं गति

से युक्त है, इसलिये वह **'अग्नि'** है। मृत्यु के पाश में बँधा है, इस कारण से वह **'मृत्यु'** है। जब तक वह मुमुक्षत्त्व के योग्य नहीं हो जाता अथवा मृत्यु पर विजय प्राप्त नहीं कर पाता, तब तक उसका सम्बन्ध मर्त्यलोक से बना ही रहता है। इतना सब कुछ होने पर भी परमपिता परमात्मा ने उसको उन दिव्य शक्तियों से संयुक्त कर रखा है, जिससे वह अपने-आप को विश्व के देवों की शृंखला में स्थापित कर सकता है, इसलिये **विश्वेदवा** है। इस प्रकार पृथक्-पृथक् देवताओं का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में मनुष्य के साथ स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

प्रस्तुत मन्त्र पर विचार करें और वेद भगवान् ने जिस प्रकार से संसार या जीवन की उपमा नदी के रूप में दी है, यदि गम्भीरता से उस पर चिन्तन करें, तो हमें यह प्रतीत होता है कि - जिस प्रकार नदी का जल स्थिर नहीं होता, निरन्तर आगे बहता ही जाता है, उसी प्रकार संसार वा जीवन का चक्र कभी स्थिर नहीं रहता, यह निरन्तर आगे बढ़ता ही जाता है। इसीलिये **'संसरति इति संसारः'** जो निरन्तर सरक रहा है, खिसक रहा है, आगे बढ़ता ही जा रहा है, जिसका प्रवहण कभी बन्द नहीं होता, उसे संसार कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि मनुष्य जीवन प्राप्त कर, यदि संसार में हमारा अवतरण हुआ है तो हमें इस संसाररूपी नदी की प्रवहणता, इसकी गहराई, इसकी संरचना और अपनी शक्ति-सामर्थ्य का विचार अवश्य करना चाहिये। मनुष्य संसार में पशुवत् जीवन व्यतीत करने के लिये उत्पन्न नहीं हुआ है। खाना-पीना, सोना, डरना, सन्तान उत्पन्न करना - ये कार्य तो अन्य जीवन में भी होते रहे हैं और होते रहेंगे। मनुष्य जन्म प्राप्त करना विशेष सौभाग्य की श्रेणी में आता है। जब विशेष सौभाग्य मनुष्य-जीवन के साथ जुड़ा है तो स्वाभाविक है कि मनुष्य-जीवन के कुछ विशेष कर्त्तव्य भी होंगे और उसका विशेष लक्ष्य भी होगा। यदि इस विशिष्टता पर विशिष्टरूप से विचार किया जाय तो नदी के पार आनन्दमय ब्रह्मलोक पहुँचकर, अभीष्ट आनन्द की प्राप्ति करना, मनुष्य जीवन का विशेष लक्ष्य और विशेष कर्त्तव्य है। जब मनुष्य बिना किसी भूल व प्रमाद के कर्त्तव्य के पालन में तत्पर हो जाता है, तब कहीं वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में मनुष्य-जीवन की साफल्यता का अनुभव करने में सक्षम हो सकेगा।

वेद भगवान् नदी की विशिष्टता बतलाते हुए संसार के सभी मनुष्यों को सन्देश देते हुए कहते हैं कि - ऐ संसार के मनुष्यो ! यदि तुम्हें आनन्दमय ब्रह्मधाम तक पहुँचकर अभीष्ट अर्थात् आनन्द की प्राप्ति करनी है, तो तुम सावधान व प्रयत्नशील होकर संसार वा जीवन रूपी नदी को पार करने का प्रयत्न करो; क्योंकि यह नदी साधारण नहीं है। इस नदी का जल प्रवाह जितना विस्तृत और तीव्र है, वहाँ इस नदी की तलहटी में ऐसे प्रस्तर-खण्ड (पत्थर के टुकड़े) भी विद्यमान हैं, जो जल के तीव्र प्रवाह से रगड़-रगड़ कर अत्यन्त चिकने हो चुके हैं अथवा खण्डित होकर इतने नुकीले हो चुके हैं कि जिनका स्पर्श नदी में प्रवेश करने वाले को किसी न किसी प्रकार से घायल अवश्य कर

देगा। अब नदी पार करने के दो ही उपाय हैं – प्रथम यह कि आपके पास उस वेगवान् जल की लहरों से टकराकर निकलने वाली सशक्त कोई नौका हो; और दूसरा उपाय यह है कि आपको तैरकर या नदी में प्रवेश कर, धैर्यपूर्वक पार करने का साहस हो।

यदि नौका जैसा पार करने का साधन आपके पास नहीं है, तो फिर नदी की विस्तृत जलराशि में आपको प्रवेश करना ही पड़ेगा। जब नदी में प्रवेश करने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय है ही नहीं, तो आपको फिर यह जानना भी आवश्यक है कि – नदी का वेग कितना है और नदी की आन्तरिक स्थिति कैसी है ? यदि बिना इसका विचार किये नदी में प्रवेश करने का दुस्साहस किया, तो नदी पार करने की अभिलाषा मात्र धूमिल ही नहीं होगी, अपितु जलधारा के वेग के भंवर में फँसकर स्वयं के अस्तित्त्व पर भी प्रश्नचिह्न खड़ा हो जायेगा ?

वेद भगवान् प्रस्तुत वेदमन्त्र द्वारा इसी बात का संकेत देते हुए संसार के समस्त मानवों के समक्ष संसार या जीवनरूपी नदी की चित्र-विचित्रता का वर्णन करते हुए कहते हैं – ऐ संसार के मनुष्यो ! यह नदी **'अश्मन्वती'** चिकने व तीक्ष्ण-नुकीले पत्थरों से युक्त है। जैसे ही नदी में प्रवेश करने के लिये आपने पैर रखा, न जाने आप कब फिसल जायें, घायल हो जायें और लक्ष्य-प्राप्ति के स्थान पर जलधारा के प्रवाह में बह जायें। इसलिये प्रथम सावधानी यह रखनी है कि जिस प्रस्तरखण्ड पर आपका पैर पड़े, आप उस पर स्थिरता से पैर रख सकें। नदी में कुछ प्रस्तरखण्ड ऐसे भी हैं, जिन पर पैर पड़ते ही वे घायल करने को उत्सुक हैं। यदि ऐसे प्रस्तरखण्ड पर भी आपके पैर का स्पर्श हो गया, तो फिर नदी पार करने की अभिलाषा खण्डित ही नहीं होगी, अपितु दुःख-दर्द और क्षति का आलिङ्गन आपके साहस और समय को पूरी तरह से भ्रष्ट कर देगा। अतः सावधान होकर इस नदी में प्रवेश करें। यहाँ एक बात का और ध्यान रखें कि जब आप नदी में प्रवेश करें तो नदी की जलराशि में रहनेवाले जल-जन्तुओं से भी सावधान होकर हमें अपने जीवन की रक्षा करनी होगी, अन्यथा कोई भी जल-जन्तु हमें अपना ग्रास बना सकता है। यदि इन सब विपरीत परिस्थितियों से जूझने-लड़ने का सामर्थ्य व साहस आप उत्पन्न कर सके, तो निश्चित ही आपका पुरुषार्थ आपको उस लक्ष्य तक पहुँचा सकता है। बस, आवश्यकता है नदी के पार पहुँचने की। इसके लिये हम साहस-धैर्य-विवेक का अवलम्बन लेकर, और वेदमाता के संकेत को सुन व धारणकर, नदी में अवतरण करने को उद्यत हो जायें।

अब आपके मन में जिज्ञासा उत्पन्न होगी कि यदि वेदभगवान् ने संसार वा जीवन को एक नदी के रूप में प्रस्तुत कर, उसके चिकने तीक्ष्ण प्रस्तर-खण्डों एवं जल-जन्तुओं से सावधान रहने का संकेत दिया है तो वे पत्थर व जल-जन्तु कौन से हैं ? हम जब संसार को देखते हैं तो हमें इस प्रकार की कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती। हमें यह संसार परमात्मा ने खाने-पीने-मौज़ करने के लिये दिया है। हम उसी नीति का

अनुसरण कर रहे हैं और भोगों को अधिक से अधिक भोगकर, अत्यन्त सुख प्राप्त रहे हैं।

मित्रो ! यह बात सुनने व कहने में जितनी प्रिय लगती है, उतनी प्रिय है नहीं। हमारी स्थिति उस श्वान (कुत्ते) के समान है, जो हड्डी को चूसते हुए अपनी दाढ़ों को घायल कर लेता है। जब उन दाढ़ों से रक्त निकलना शुरू हो जाता है तो वह उस निस्सरित रक्त (ख़ून) का आस्वादन लेते हुए यह समझता है कि रक्त हड्डी में से निकल रहा है। जैसे वह श्वान पशुबुद्धि के कारण हड्डी को चबाने में मस्त है, इसी प्रकार जो लोग **'खाओ पीओ और मौज करो'** की नीति का अनुसरण करते हैं, हमारी दृष्टि में उनके बुद्धि-कपाट बन्द हैं। वे मनुष्य जन्म प्राप्त करने के बाद भी पशुवत् जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जिस सौभाग्य से उन्होंने मनुष्य जन्म प्राप्त किया है, अज्ञानतावश वे उसे दुर्भाग्य में परिवर्तित कर रहे हैं। जिस संसार के पदार्थों का उपभोग कर, वे सुख प्राप्त करने की अभिलाषा रखकर उन भोगों को भोगने में संलग्न हैं, वही भोग क्षणिक सुख देने के बाद परिणाम में दुःखों को उत्पन्न कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में उनके लक्ष्य की कल्पना मात्र कल्पना बनकर ही रह जायेगी। परिणाम यह होगा कि वे संसार में आकर दुःखों के सागर में निरन्तर डूबते नज़र आयेंगे; और जब वे इस संसार से प्रयाण करेंगे तो उन कुकृत्यों के कुसंस्कारों की पूँजी वे अपने साथ लेकर जायेंगे, जिसके परिणाम स्वरूप परमात्म-व्यवस्था से वे **'अन्धेन तमसावृताः'** (यजु0 40/4) अज्ञान-अन्धकार एवं दुःखमय लोकों को प्राप्त करेंगे। अरे ! संसार में मनुष्य-जन्म की प्राप्ति **धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष** की सिद्धि के लिये परमात्मा ने हमें उपहार स्वरूप भेंट में दी थी, परन्तु हमने उस उपहार का सांसारिक विषयों में प्रयोग कर, उसे नष्ट करने में ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति व्यय कर दी। इसको हम एक दृष्टान्त द्वारा समझ सकते हैं।

कहते हैं कि किसी देश का राजा एक दिन अकेले ही शिकार खेलने के लिये जङ्गल की ओर चला गया। शिकार खेलते-खेलते वह ऐसे जङ्गल में प्रवेश कर गया, जहाँ से लौटना आसान नहीं था। जब सूर्य अस्ताचल को जाने के लिये तैयार हुआ, तब राजा को ध्यान आया कि मुझे भी अपने राजमहल में लौटना है। मैं तो शिकार करते-करते ऐसे घने जङ्गल में आ गया हूँ कि जहाँ लौटने के लिये रास्ता ढूँढ़ना भी आसान नहीं है। अंधेरा हो चुका है; कहीं ऐसा न हो कि मैं मार्ग भटकने के कारण और अधिक जङ्गल में चला जाऊँ। ऐसा विचारकर, राजा ने रात्रि जङ्गल में ही किसी सुरक्षित स्थान पर व्यतीत कर, अगले दिन प्रातः अपने राज्य को लौटने का निश्चय किया। ऐसा विचार कर, राजा ने जब अपनी दृष्टि इधर-उधर दौड़ाई तो उसे कुछ दूर पर एक दीपक जलता हुआ दिखाई दिया। उसके मन में विचार आया कि जहाँ दीपक जल रहा है, वहाँ कोई न कोई मनुष्य अवश्य होगा। ऐसा निश्चय कर, राजा उस ओर बढ़ गया। थोड़ी दूर जाकर राजा ने देखा कि जिस स्थान पर दीपक जला हुआ था, उस जीर्ण-शीर्ण झोंपड़ी में एक वृद्ध मनुष्य ज़मीन

पर लेटा हुआ विश्राम कर रहा है। राजा ने झोंपड़ी के द्वार पर आवाज़ देते हुए कहा – 'कोई है, मैं आज की रात्रि आपकी झोंपड़ी में व्यतीत करना चाहता हूँ। मैं रास्ता भटकते हुए इधर आ गया हूँ, मैं इस देश का राजा हूँ। यदि आप मुझे अनुमति दें तो मैं एक रात्रि आपकी झोंपड़ी में व्यतीत कर, कल प्रातः अपने नगर को चला जाऊँगा।' झोंपड़ी में विश्राम करनेवाले उस वृद्ध ने जैसे ही राजा की बात सुनी, तो उसने उत्सुकता पूर्वक प्रणाम करते हुए कहा – 'महाराज ! मेरा सौभाग्य है कि मेरे देश का राजा आज मेरी कुटिया में विश्राम करेगा। पर राजन् ! मेरे पास चारपाई आदि की कोई सुविधा नहीं है। मेरी जीर्ण-शीर्ण कुटी है। मेरे पास एक चटाई है, मैं उसी पर विश्राम करता हूँ, राजन् ! आपको भी उसी चटाई पर सोना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त मेरे पास अन्य कोई उपाय नहीं है।'

राजा ने उस वृद्ध मनुष्य की बात सुनकर कहा – 'मित्र ! तुम जिस प्रकार अपनी झोंपड़ी में विश्राम करते हो, मैं भी उसी प्रकार विश्राम कर लूँगा, आप मेरी अधिक चिन्ता न करें। एक रात ही मुझे व्यतीत करनी है, मैं कल प्रातः होते ही अपने राज्य को लौट जाऊँगा।' राजा की सहमति पाकर उस वृद्ध ने राजा के विश्राम के लिए चटाई बिछा दी और स्वयं अपनी धोती विछाकर सोने की तैयारी कर ली। उस वृद्ध मनुष्य के पास जो भी रुखा-सूखा पदार्थ था, उसने राजा की सेवा में उपस्थित कर दिया। राजा ने उस वृद्ध के आतिथ्य को प्रेमपूर्वक स्वीकार कर, उसका धन्यवाद किया। अब राजा के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि घने जङ्गल में यह व्यक्ति रहता है, इसका क्या कारण है ? इसकी उदरपूर्ति का क्या साधन है ? इसका कोई परिजन है भी या नहीं ? राजा ने अपनी जिज्ञासा के समाधान के लिये उस वृद्ध व्यक्ति से पूछा – 'भगवन् ! आपका परिवार कहाँ रहता है ? आपके परिवार में कौन-कौन सदस्य हैं ? आपकी आय का साधन क्या है ? क्या आप इस झोंपड़ी के अकेले रहते हैं या आपके साथ परिवार का कोई अन्य सदस्य भी रहता है ?' राजा के प्रश्नों को सुनकर उस वृद्ध व्यक्ति ने कहा – 'महाराज ! मेरा परिवार पूर्णतः समाप्त हो चुका है। मेरा एक पुत्र था जो दुर्घटना में मारा गया। मेरी पत्नी अपने पुत्र के वियोग को सहन न कर सकी और कुछ समय बाद ही वह मुझे अकेला छोड़कर संसार से चल बसी। अब तो महाराज, मैं अपनी शेष जिन्दगी किसी प्रकार से ढो रहा हूँ।' उस वृद्ध के अकेलेपन की बात सुनकर राजा को अत्यन्त दुःख हुआ, पर हृदय में उत्पन्न दयाभाव के कारण राजा ने उस वृद्ध से पुनः पूछ लिया – 'मित्र ! तुम अकेले इस जङ्गल में रहकर क्या करते हो ? तुम्हारी आय का क्या साधन है ? तुम अपनी उदरपूर्ति किस प्रकार से करते हो ?' राजा की बात सुनकर उस वृद्ध व्यक्ति ने कहा – 'महाराज ! जङ्गल में जो कुछ खाने योग्य मिल जाता है, उससे अपनी भूख को मिटाने का प्रयत्न करता हूँ। मैं प्रतिदिन जङ्गल में जाता हूँ तो वहाँ से कुछ लकड़ियों को काटकर ले आता हूँ। उन्हें जलाकर कोयले बना, बाजार में बेच देता हूँ। उनसे दो-चार आने प्राप्त हो जाते हैं, उन्हीं से अपने भोजन की व्यवस्था कर लेता

हूँ। महाराज ! मुझ ग़रीब के पास और कुछ है नहीं, जो मैं अन्य कुछ कर सकूँ। महाराज ! मैं ग़रीब हूँ, ग़रीब को यदि एक वक़्त की रोटी भी मिल जाय तो ये उसका सौभाग्य है।'

राजा, उस व्यक्ति की बात सुनकर अत्यन्त दुःखी हुआ और सोचने लगा कि यदि मेरे राज्य में इतने निर्धन लोग रहते हैं तो मुझे इस प्रकार से राज्य-प्रबन्ध करना चाहिये कि मेरे राज्य में दो वक़्त का भोजन प्रत्येक व्यक्ति को मिल सके। राजा इन विचारों में कुछ देर के लिये खो गया। विचार करते-करते थोड़ी देर बाद राजा को नींद आ गयी। राजा और वृद्ध व्यक्ति निद्रा की गोद में चले गये। जब प्रातःकाल हुआ और भगवान् भास्कर की किरणों ने पृथ्वी पर प्रकाश फैलाना प्रारम्भ किया तो राजा उठा। दैनिक कृत्य से निवृत्त होकर, जब राजा अपने नगर को लौटने के लिए तैयार हुआ, तो चलते समय राजा के मन में विचार आया कि इस वृद्ध व्यक्ति को जीवन-यापन के लिए प्रत्युपकार में मुझे कुछ दे देना चाहिये। पर इस समय मेरे पास कुछ भी नहीं है। या तो मैं इसे अपने राजमहल में आमन्त्रित कर कुछ धन प्रदान करूँ, अन्यथा मैं क्या दे सकता हूँ ? राजा ऐसा विचार मन ही मन कर ही रहा था कि अचानक उसे ध्यान आया कि जङ्गल की सीमा से पूर्व मेरे राज्य में एक चन्दन का बाग़ है, यदि मैं इसको वह बाग़ दे दूँ, तो चन्दन की लकड़ियाँ बेचकर शायद इसकी निर्धनता दूर हो सकती है। ऐसा निश्चय कर राजा ने उस वृद्ध व्यक्ति से कहा - 'मित्र ! दिन निकल आया है, मैं अपने राज्य को लौटना चाहता हूँ; पर तुम्हारी स्थिति को सुनकर मेरे हृदय में दया का भाव जाग्रत हुआ है। मैं चाहता हूँ कि तुम्हारी निर्धनता दूर हो जाये और तुम अपने शेष जीवन को आराम से व्यतीत कर सको। इसके लिये मैं अपने राज्य में स्थित एक चन्दन का बाग़ जो इस जङ्गल की सीमा से सटा हुआ है, उसे तुम्हें प्रदान कर रहा हूँ, जिससे तुम्हारी निर्धनता उन चन्दन की लकड़ियों के बेचने से कुछ दिनों में समाप्त हो जायेगी।' ऐसा कहकर राजा ने अपने नगर को प्रस्थान किया।

अगले दिन यह वृद्ध व्यक्ति जब राजा द्वारा दिये गये चन्दन के बाग़ में गया तो वहाँ लगे अनेकों वृक्षों को देखकर इसने मन में सोचा कि राजा ने जङ्गल में भटकने की मेरी समस्या समाप्त कर दी। अब मैं यही से लकड़ियाँ काटूंगा और उनके कोयले बनाकर बाजार में बेच आया करूँगा। इस वृद्ध व्यक्ति का जो पूर्व की भांति दैनिक क्रम था, उसी के अनुसार इसने बाग़ से कुछ लकड़ियों को काटा, उन्हें जलाया, और फिर कोयले बनाकर बाजार में बेचने के लिये चला गया। उनसे जो भी प्राप्ति हुई, उसी से उदरपूर्ति करना, बस यही इसकी नियति थी।

कुछ समय बाद जब राजा पुनः शिकार के लिये जङ्गल की ओर आ निकला, तो उसे याद आ गया कि मैंने एक वृद्ध व्यक्ति को चन्दन का बाग़ दिया था। अब तो उस व्यक्ति की दशा में अवश्य ही परिवर्तन आ गया होगा। ऐसा विचार आते ही राजा ने उस जङ्गल में प्रवेश किया, जहाँ कुछ मास पूर्व वह भटकते हुए वृद्ध की झोंपड़ी में एक रात्रि विश्राम के लिये रुका

था। राजा के कदम उस ओर बढ़ गये। जब राजा झोंपड़ी के निकट पहुँचा तो उसको परिवर्तन का कोई भी लक्षण दिखाई न पड़ा। जो झोंपड़ी आज से दो-चार मास पूर्व जिस स्थिति में थी, आज उसकी दशा और भी अधिक जर्जरित दिखाई दे रही थी।

राजा जब झोंपड़ी के समीप पहुँचा तो उस वृद्ध व्यक्ति की राजा पर नज़र पड़ी। उसने हाथ जोड़कर राजा को प्रणाम किया। वृद्ध व्यक्ति ने राजा को बैठने के लिये पहले एक आसन दिया और शीतल जल पिलाकर राजा की कुशलक्षेम पूछी। अब राजा ने उस वृद्ध व्यक्ति से पूछ लिया - 'मित्र ! मैंने तुम्हें चन्दन का एक बाग़ दिया था। मैं सोच रहा था कि मेरे दिये उपहार से आपकी आर्थिक-स्थिति में सुधार हो जायेगा; पर मैं तुम्हारी दशा में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं देख रहा हूँ; क्या हुआ उस चन्दन के बाग़ का ?'

राजा की बात सुनकर उस वृद्ध व्यक्ति ने उत्तर देते हुए कहा - 'महाराज ! आपने मुझ पर जो कृपा की, उसका मुझे एक ही लाभ रहा कि मुझे जङ्गल में कहीं भटकना नहीं पड़ा। मैं अपने बग़ीचे से लकड़ी काटकर लाता हूँ, उनके कोयले बनाकर बाजार में बेच देता हूँ। उससे मुझे जो दो-चार आने प्राप्त हो जाते हैं, उसी से अपने जीवन का निर्वाह करता हूँ। वह भी थोड़े समय बाद समाप्त हो जायेगा, क्योंकि कुछ वृक्ष ही उस बाग़ में शेष हैं, उसके बाद फिर मुझे जङ्गल-जङ्गल भटककर लकड़ियाँ लाने को मजबूर होना पड़ेगा।'

राजा ने उस वृद्ध व्यक्ति की बात को सुना, अपने माथे पर हाथ मारकर कहा - 'मित्र ! तुमने ये क्या किया ? मैंने चन्दन का बाग़ तुम्हें कोयले बनाने के लिये नहीं दिया था, अपितु तुम्हें चन्दन की लकड़ी बेचने के लिये दिया था। यदि तुम कोयले के स्थान पर उसकी लकड़ी बेचते तो तुम्हारी स्थिति पूरी तरह से परिवर्तित हो चुकी होती। ये तुमने क्या किया, तुमने चन्दन और साधारण लकड़ी के अन्तर को नहीं समझा। अच्छा, अब यह बताओ कि उस बग़ीचे में कितने वृक्ष शेष हैं ?' वृद्ध ने कहा - 'महाराज ! दो-चार वृक्ष होंगे।' राजा ने कहा - 'अच्छा, तुम बग़ीचे में जाओ और किसी वृक्ष से थोड़ी-सी लकड़ी काटकर लाओ।'

राजा के आदेश पर यह व्यक्ति चन्दन के बग़ीचे में गया और एक छोटी-सी टहनी काटकर ले आया। राजा ने उसके छोटे-छोटे टुकड़े करवाकर वृद्ध व्यक्ति को आदेश देते हुए कहा कि - 'इनको लेकर बाजार जाओ और इन्हें बेचकर आओ।' यह वृद्ध व्यक्ति बोला - 'महाराज ! आप मुझसे यह क्या करवा रहे हैं ? मैं कोयले की गठरी लेकर बाजार जाता हूँ, तब कहीं मुझे दो-चार आने प्राप्त होते हैं। अब मैं इन लकड़ियों को आपके आदेश पर लेकर यदि जाऊँ तो मुझे खाली हाथ ही लौटकर आना पड़ेगा। क्योंकि इन दो-चार टहनियों का कोई क्या मूल्य देगा ?' राजा ने कहा - 'मित्र ! तुम ग़लत सोच रहे हो। मैं जैसा कहता हूँ, तुम वैसा ही करो। तुम चन्दन की इन लकड़ियों को लेकर बाजार जाओ और इन्हें बेचकर आओ।'

राजा का आग्रह और आदेश मानकर, अनमने-मन से यह वृद्ध व्यक्ति उठा और उन चन्दन की लकड़ियों को लेकर बाजार में चला गया। एक दुकानदार के पास बड़े संकोचभाव से उन चन्दन की लकड़ियों को दिखाकर कहा - 'लालाजी ! क्या तुम इन चन्दन की लकड़ियों को खरीदोगे ?' दुकानदार ने उन लकड़ियों को हाथ में लेकर देखा और सूँघकर जब यह जान लिया कि ये असली चन्दन है, तो उसने उस वृद्ध व्यक्ति से पूछा - 'तुम इनका क्या माँग रहे हो ?' वृद्ध व्यक्ति ने कहा - 'लालाजी ! आप स्वयं समझदार हैं, आप ही मुझे बतायें कि आप इनका क्या दोगे ?'

दुकानदार समझ गया कि शायद इसको इसकी कीमत का पता नहीं है। तब उसने उस वृद्ध से कहा - 'मैं तुम्हें इनका एक रुपया दे सकता हूँ।' अब जिस वृद्ध ने अपनी जीवन में दो-चार आने से अधिक कभी प्राप्त नहीं किये थे और उसने आज अपने कानों से चन्दन के दो-चार टुकड़ों की कीमत एक रुपया सुनी, तो उसने आश्चर्य से कहा - 'क्या एक रुपया ?' दुकानदार ने समझा कि - यह मेरे बताये रुपये को कम समझ रहा है। तो उसने पुनः कहा - 'अच्छा मैं आपको दो रुपये दे सकता हूँ।' इस वृद्ध व्यक्ति ने आश्चर्य से कहा - 'दो रुपये ?' पड़ौसी दुकानदार इन दोनों की बातों को सुन रहा था और दुकानदार द्वारा बतलाये गये दो रुपये की बात सुनकर सोचने लगा कि यह हमारा पड़ौसी भी क्या है, बीस-तीस रुपये के माल के दो रुपये लगा रहा है। इस दुकानदार ने वृद्ध पुरुष की ओर इशारा कर अपने पास बुलाया और कहा - 'तुम इनकी क्या कीमत माँग रहे हो ?' वृद्ध व्यक्ति ने कहा - 'आप स्वयं समझदार हैं, मुझे बतायें कि आप इनका क्या दोगे ?' दुकानदार ने कहा - 'पाँच रुपये।' इस वृद्ध व्यक्ति ने आश्चर्य के साथ कहा - 'पाँच रुपये।' दुकानदार ने समझ लिया कि मेरे बताये पाँच रुपये इसकी दृष्टि में कम हैं। तब दुकानदार ने कुछ सोचकर इस वृद्ध व्यक्ति से कहा - 'अच्छा, मैं आपको दस रुपये तक दे सकता हूँ।'

जैसे ही इस वृद्ध व्यक्ति ने दस रुपये की आवाज़ सुनी और अपनी मूर्खता पर विचार किया तो इसको इतना गहरा सदमा लगा कि यह वहीं मूर्छित हो गया। दुकानदार ने पानी के छींटे इसके मुख पर लगाये। जब इसे होश आया तो दुकानदार ने पूछा - 'क्या हुआ, मैंने दस रुपये लगाये थे, तुम्हें यदि अधिक माँगने थे, तो अपने मुँह से कुछ बोलते। पर तुम दस रुपये सुनकर मूर्छित हो गये; क्या बात है ?' तब वह वृद्ध व्यक्ति रोने लगा। जब दुकानदार ने रोने का कारण पूछा तो उसने कहा - 'राजा ने मेरे जीवन-यापन के लिये एक चन्दन का बाग़ दिया था। मैं उसकी लकड़ी काट, उन्हें जलाकर कोयले बना, बाजार में बेच देता था। जो दो-चार आने मुझे प्राप्त हो जाते, उसी से अपनी उदरपूर्ति करता था। मैं कितना मूर्ख हूँ कि मैंने सारे बग़ीचे को यूँ ही नष्ट कर दिया। जब कुछ लकड़ी के टुकड़ों की इतनी कीमत हो सकती है तो मैंने जिस बग़ीचे को अपने हाथों से नष्ट कर दिया, उसकी कीमत कितनी होगी ?'

प्रिय सज्जनो ! उस वृद्ध ने जो ग़लती की, क्या हम सब मनुष्य इस प्रकार की भूल नहीं कर रहे ? क्षणिक सुख के लिये अपने जीवन को यूँ ही विनष्ट किये जा रहे हैं। अपने हाथों से अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार रहे हैं, अपने सौभाग्य को दुर्भाग्य में परिवर्तित कर मात्र इहलोक को ही नष्ट नहीं कर रहे, अपितु परलोक को भी नष्ट कर रहे हैं। जब अन्त समय आता है, तब कहीं हमें वास्तविकता का अनुभव होता है। जब पूरी ज़िन्दगी समाप्त हो चुकी होती है और हमारे सामने मृत्यु खड़े होकर हमें ले जाने के लिये तैयार दिखायी देती है, उस दुरवस्था में हमारे मन में यही विचार आता है –

मैं फूल चुनने आया था, बाग़े हयात में।
दामन को ख़ार-ज़ार में, उलझा के रह गया ॥

मैं करने कुछ आया था, कर कुछ और बैठा। अब वह पश्चात्ताप की अग्नि में जलकर प्राणों को त्याग देता है। ऐसी दुरवस्था हमारे जीवन में कभी न आये, इसके लिये वेद भगवान् संसार के मनुष्यों को सावधान करते हुए कह रहे हैं – **'अश्मन्वती रीयते'** ऐ संसार के लोगो ! यह जीवनरूपी नदी निरन्तर बहती जा रही है, यह रुकनेवाली नहीं है। यदि इस नदी को पार करना चाहते हो तो तैरने की या नदी में उतरकर पार करने की कला को सीख लो। नदी पार करने में जो-जो बाधायें आपके समक्ष आयें, उन्हें अपने सद्विवेक-सद्ज्ञान व सावधानी से नदी में उतरने से पूर्व ही समाधान जानने का प्रयत्न करो; अन्यथा पश्चात्ताप के कुछ हाथ नहीं लगेगा। इसलिये वेद कहता है – **'उत्तिष्ठत'** उठो, जागो और **'सं रभध्वम्'** पुरुषार्थपूर्वक प्रयत्नों को प्रारम्भ करो।

अब आपके मन में विचार आ सकता है कि – जागना दिन में होता है और सोना रात्रि में। जब हम प्रत्येक कार्य पढ़ना-लिखना, उठना-बैठना या अन्यान्य कार्य जागने पर ही करते हैं, तो फिर उठना व जागना कैसा ? जब जीवन का प्रत्येक कार्य हम पुरुषार्थ द्वारा सिद्ध कर ही रहे हैं तो फिर प्रयत्न कैसा ? यह उपदेश उनके लिये ठीक है जो आलसी और निकम्मे अकर्मण्य बनकर सोये पड़े रहते हैं।

प्रिय मित्रगण ! क्या जागरण अवस्था में मनुष्य की सुप्त-अवस्था जैसी स्थिति नहीं होती ? इतिहास में अनेकों प्रमाण ऐसे दिखाई देते हैं कि जागते हुए मनुष्य की क्रियायें भी सुप्त मनुष्य के समान है। याद रखो, जिस मनुष्य की चेतना शक्ति-विवेक शक्ति सुस्त अवस्था में है, वह जागते हुए भी सोये हुए मनुष्य के समान है। हमारे सामने चित्र-विचित्र घटनायें ऐसी होती रहती हैं जो हमारे जीवन के लिये अनेकों प्रकार का सन्देश व उपदेश प्रदान करती हैं, पर हम चेतना के अभाव में उनको नहीं देख पाते। यदि आँख के इन दो गोलकों से ही देखना समझते हो, तो यह मात्र वस्तु की आकृति को प्रतिविम्बित कर सकते है, पर चेतना व विवेक की आँख द्वारा ही मनुष्य वस्तु का सम्यक् बोध कर सकता है।

क्या आपने किसी वस्तु को ऊपर फेंकने के बाद नीचे आता नहीं देखा ? आप ऐसा कार्य अपने जीवन में अनेकों बार कर चुके होंगे; पर क्या आपके मस्तिष्क में उस वस्तु के गिरते समय

यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि – किसी भी वस्तु को जब ऊपर की ओर बलपूर्वक उछाला जाता है तो वह वस्तु ऊपर जाने के स्थान पर नीचे की ओर क्यों आती है ? हम विवेक की आँख के अभाव में नहीं सोच पाते। कोई न्यूटन जैसा विवेकशील मनुष्य ही यह सोचता है कि सेव को ऊपर फैंकने पर सेव ऊपर की ओर क्यों नहीं जाता ? यदि वह बार-बार बलपूर्वक ऊपर फैंकने के बाद भी नीचे ही आता है तो इसका अभिप्राय यह है कि हमारी पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है, जिसके कारण प्रत्येक वस्तु नीचे की ओर आती है।

अनेकों लोगों ने मूर्ति के प्रसाद को कुत्ते, बिल्ली एवं चूहों द्वारा खाते देखा होगा। परन्तु उनके मन में कभी यह विचार नहीं आता कि – जिस वस्तु को हमने भगवान् को अर्पित कर दिया, क्या उस भगवान् को अपने भोजन की रक्षा नहीं करनी चाहिये ? ऐसी घटनायें हमारी आँखों के सामने घटित होती रहती हैं, पर ज्ञान-विवेक के अभाव में हमारी चेतनाशक्ति सम्यक् कार्य नहीं करती। परिणाम यह होता है कि हमारी मूर्ति पर प्रसाद चढ़ाने की प्रक्रिया यथावत् चलती रहती है और चूहे-बिल्ली-कुत्ते की यथावत्। यदि बालक मूलशङ्कर शिवदर्शन की पिपासा के कारण मन्दिर में बैठा हुआ भक्तों द्वारा मूर्ति पर चढ़ाये गये प्रसाद को चूहों द्वारा खाते हुए देखता है तो चेतना शक्ति की आँख, उसके विवेक को जाग्रत करती है और वह मन ही मन विचार करता है कि – मैंने सुना था कि शिव तो संसार के रक्षक हैं, सबका कल्याण करनेवाले है, यदि वह अपना रौद्ररूप प्रकट कर दें तो एक क्षण में सब कुछ भस्म कर सकते हैं, इसी कारण से वह रुद्र भी कहलाते हैं; पर क्या कारण है कि भक्तों द्वारा चढ़ाये गये प्रसाद को चूहे खा रहे हैं, और वे अपने प्रसाद की रक्षा नहीं कर रहे ? यदि हमारा कोई प्रियजन हमें किसी प्रकार का खाद्यपदार्थ भेंट करे, और इसी मध्य कोई पशु-पक्षी या मनुष्य अनधिकार छीनने का प्रयत्न करे तो हम यथाशक्ति प्रतिकार कर, उस पदार्थ की रक्षा करेंगे। पर ये शिवजी भक्तों द्वारा चढ़ाये प्रसाद को चूहों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट करने पर भी रक्षा नहीं कर रहे, क्या यही सच्चे शिव हैं या शिव अन्य कोई और ?

बालक मूलशङ्कर ने इस जिज्ञासा को जब पिता के समक्ष रखा, तो पिता ने पिताभाव से पुत्र की जिज्ञासा का समाधान न कर पुत्र की चेतना के कपाट को ही बन्द रखने का प्रयास किया। पर बालक मूलशङ्कर की चेतनाशक्ति उत्तुङ्ग तरङ्गों की भाँति बार-बार उद्वेलित हो रही थी। पिता से सन्तुष्टिजनक उत्तर न पाकर वह बालक मूलशङ्कर रात्रि के अंधेरे में ही घर पहुँचा। माँ से भोजन मांगा और इसी मध्य मन्दिर के परिदृश्य का वर्णन करते हुए वह माँ से पूछ बैठा – 'माँ ! क्या यही शिव है जो संसार का कल्याण करता है या अन्य कोई और ?' माँ सहजतावश कह बैठी – 'बेटा ! यह तो शिव की प्रतिमा है, पर मैंने सुना है कि सच्चे शिव कैलाश पर्वत पर रहते हैं।' बस, फिर क्या था, बालक मूलशङ्कर की चेतनाशक्ति को दौड़ लगाने के लिए एक मार्ग मिल गया और उसी क्षण उसने संकल्प किया कि मैं सच्चे शिव के दर्शन अवश्य

करूँगा। जैसे शिव संसार का कल्याण करते हैं, वैसे ही मैं भी संसार का कल्याण करूँगा।

बालक मूलशङ्कर की चेतनाशक्ति का ही प्रभाव था कि उसने मात्र घर का त्याग ही नहीं किया, अपितु माता-पिता, धन-सम्पत्ति आदि को त्यागकर, अज्ञान-अविद्या की दीवारों को धूल-धूसरित कर, स्वयं कल्याण का मार्ग चुना और **महर्षि दयानन्द सरस्वती** बनकर संसार के मानवों को कल्याण के मार्ग पर चलने का उपदेश व सन्देश दिया।

राजकुमार सिद्धार्थ ने अपने जीवन में जब प्रथमबार एक जीर्ण-शीर्ण काया वाले वृद्ध व्यक्ति को देखा तो उसकी स्थिति देखकर उसे आश्चर्य हुआ; क्योंकि आज से पूर्व कभी उसने ऐसे व्यक्ति को नहीं देखा था। राजकुमार सिद्धार्थ ने अपने मन्त्री से पूछा - 'यह क्या है ?' मन्त्री ने संकोच से उत्तर देते हुए कहा - 'महाराज ! जीवन का यही सत्य है। एक अवस्था जीवन में ऐसी भी आती है कि मनुष्य पूर्णतः अशक्त हो जाता है। उसे किसी न किसी के सहारे की आवश्यकता होती है। वह अपने दैनिक कार्यों को करने की सामर्थ्य भी नष्ट कर बैठता है। यहाँ तक कि स्वयं कार्य करने की बात तो क्या, चलने-फिरने, सुनने-बोलने, विचार करने में भी वह असमर्थ हो जाता है। तब उसे किसी परिजन व लाठी का सहारा लेकर गमन करने को मजबूर होना पड़ता है, इसी का नाम वृद्धावस्था है।' राजकुमार ने पूछा - 'क्या यह अवस्था मुझे भी प्राप्त होगी ?' उत्तर मिला - 'राजन् ! इसकी जीवन के साथ अनिवार्यता है।' राजकुमार ने पुनः प्रश्न किया - 'क्या इससे बचने का कोई उपाय नहीं है।' मन्त्री ने कहा - 'नहीं भगवन्।'

राजकुमार सिद्धार्थ जीवन के शाश्वत सत्य का हल ढूँढ़ने में निमग्न ही था कि इसी मध्य राजकुमार को मन्त्री के साथ वसन्तोत्सव में जाने का पुनः अवसर मिला। मन्त्री अभी राजकुमार को रथ में बैठाकर उत्सव स्थल पर जाने के लिये कुछ दूर निकला ही था कि अचानक एक शवयात्रा सामने से आती हुई दिखाई दी। चार व्यक्ति शव को कन्धे पर उठाकर जा रहे हैं और कुछ परिजन रोते बिलखते जा रहे हैं तो कुछ बिल्कुल शान्तभाव से। राजकुमार के समक्ष जैसा प्रथम आश्चर्य था, आज उसे दूसरा आश्चर्य देखने को मिला। क्योंकि आज से पूर्व राजकुमार सिद्धार्थ ने कभी इस प्रकार का दृश्य नहीं देखा था।

राजकुमार ने उस दृश्य को देखकर मन्त्री से पूछा - 'मन्त्री ! यह क्या है ?' मन्त्री ने उत्तर देते हुए कहा - 'महाराज ! यह जीवन की अनिवार्यता है। जिसने संसार में जन्म लिया है एक न एक दिन उसको जाना ही पड़ता है। ये शवयात्रा है, यह व्यक्ति मर गया है, परिजन इसको श्मशान में दाह संस्कार करने के लिये ले जा रहे हैं।' राजकुमार इस परिदृश्य को देखकर अन्दर से हिल गया और सोचने लगा कि - 'क्या मैं भी किसी दिन मृत्यु का ग्रास बन जाऊँगा ? क्या इससे बचने का कोई उपाय नहीं है ?' इस ऊहापोह में राजकुमार ने उत्सव स्थल पर जाने के विचार को त्यागकर, मन्त्री से कहा - 'मन्त्रीजी ! तुम मेरे रथ को राजमहल में वापस ले

चलो।' मन्त्री ने राजकुमार के आदेश का पालन कर, रथ को महल की ओर मोड़ दिया। राजकुमार सिद्धार्थ अपने राजभवन में पहुँचकर इन्हीं विचारों में निमग्न हो गया और सोचने लगा कि – 'क्या मृत्यु से बचने का कोई उपाय है ? मुझे इसका कोई उपाय ढूँढ़ना पड़ेगा। इसके लिये मुझे चाहे कुछ भी करना पड़े।' विचारों के मन्थन का परिणाम यह हुआ कि एक दिन राजकुमार सिद्धार्थ अपनी पत्नी यशोधरा और पुत्र राहुल को रात्रि के अंधेरे में सोता हुआ छोड़कर जङ्गल में तप करने के लिये निकल पड़ा। कहते हैं कि राजकुमार सिद्धार्थ ने अनेकों वर्षों तक साधना के साधनों का परिपालन कर, जीवन के सत्य को जानने का प्रयत्न किया। साधना का परिणाम यह हुआ कि राजकुमार सिद्धार्थ ने अब महात्मा बुद्ध के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की। बुद्ध का अभिप्राय है – बोध को प्राप्त करने वाला, ज्ञानी, जाग्रत, पूर्णचेतना वाला। बुद्ध बनने के बाद उन्होंने मात्र अपने जीवन का ही कल्याण नहीं किया, अपितु अनेकों शिष्यों को अपने उपदेश से कल्याण के मार्ग पर चलाने का प्रयत्न भी किया।

याद रखो, जब तक मनुष्य अपनी चेतना व विवेक को जाग्रत नहीं करेगा, उसकी स्थिति पशुवत् ही होगी। अनेकों स्थलों पर तो वह पशुओं से भी अधिक पतित होता दिखाई देगा। इसलिये यदि परमात्म-कृपा से हम सबने मनुष्य शरीर को प्राप्त किया है तो इसे परम सौभाग्य समझो और यह सोचो कि परमात्मा ने मनुष्य शरीर हमें किसलिये दिया है, इसका मुख्य उद्देश्य क्या है ? इसी का नाम जाग्रत होना है। अन्यथा उपनिषद् के ऋषि ऐसा क्यों कहते –

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्
कवयो वदन्ति॥ (कठ0 3/14)

अर्थात् – ऐ संसार के मनुष्यो ! उठो, जागो और जिन विद्वत्जनों को परमात्म-कृपा प्राप्त हो चुकी है, उनकी शरण में जाकर उनसे ब्रह्मविद्या प्राप्त करो। याद रखो, यह मार्ग छुरे की धार पर चलने के समान कठिन है, क्योंकि इस मार्ग को विद्वान् लोग दुर्गम बतलाते हैं।

प्रिय सज्जनो ! यहाँ विचारणीय बात यह है कि उपनिषद् के ऋषि ने पहले **'उत्तिष्ठत'** शब्द का प्रयोग किया है, पश्चात् **'जाग्रत'** शब्द का। सामान्यतः माना यह जाता है कि जो जाग्रत है, वही तो उठा हुआ कहलायेगा ? पर यह वास्तविकता नहीं; क्योंकि हमारी सोच बहुत छोटी है। हमें अपने लक्ष्य का पता नहीं, अपने कृतकर्मों का पता नहीं; हम तो पशुवत् जीवन व्यतीत करते हुए खाने-पीने, सन्तान उत्पन्न करने के कार्यों में ही निमग्न हैं। क्या परमात्मा ने इसके लिये ही हमें मनुष्य का जन्म दिया है ? यदि यही कार्य हमारा लक्ष्य होता तो मनुष्य-जीवन प्राप्त करने की क्या आवश्यकता थी, ये कार्य तो अन्य योनियों में सहजता से हो जाते ? यदि मनुष्य जन्म की विशिष्टता शास्त्रों द्वारा वर्णित है, विद्वान् लोग भी इसकी महत्ता का अपने उपदेशों में बखान करते हैं, तो इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य जीवन प्राप्त करने के बाद मात्र दो आँखों से ही नहीं देखना, अपितु चेतना की, विवेक-

ज्ञान की आँखों को भी खोलना है। जब मनुष्य चेतना-विवेक की आँखों को खोलता है, तब उसे लक्ष्य भी दिखाई देता है और उस लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग भी। तब वह अपना पुरुषार्थ लक्ष्य को प्राप्त करने में लगाने के लिये तत्पर हो जाता है। जिन्होंने न लक्ष्य देखा और न लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग, ऐसे मनुष्य अन्धवत् हैं। अन्धा आवश्यक नहीं कि आँखों के बन्द रहनेवाले को ही कहा जाय। अरे ! जिसकी आँखें खुली होने पर भी जो देखने की शक्ति से रहित हो, वास्तव में वह भी अन्धा है। आपको अन्धत्त्व से ग्रसित दोनों प्रकार के लोग संसार में दिखाई देंगे। एक वह जिनके आँख के गोलक सदा बन्द रहते हैं और दूसरे वे जिनकी आँखों के गोलक दृष्टिवान् मनुष्य की भाँति सदा खुले रहते हैं। यहाँ गोलकों का बन्द होना व खुलना महत्त्वशाली नहीं है, यदि महत्त्वशाली है तो उस मनुष्य की देखने की शक्ति।

आपने अन्धत्त्व से ग्रसित ऐसे लोगों को भी देखा होगा, जो आँखों से नहीं देख पाते, पर उनकी चेतना व स्पर्श शक्ति इतनी तीव्र होती है कि माता-बहिन, पड़ौसी की आवाज़ सुनकर यह बताने में सक्षम हैं कि यह किसकी आवाज़ है ? आप ऐसे व्यक्ति के हाथ में दो-हजार या पाँच-सौ का नोट दे दीजिये, अन्धा व्यक्ति हाथ के स्पर्श से और अपनी जाग्रत चेतना से यह बताने में सक्षम है कि यह नोट दो-हजार का है या पाँच-सौ का। यदि किसी आँख वाले मनुष्य की आँख पर पट्टी बाँध, उसके हाथ में सौ, दो-सौ या पाँच-सौ के नोट देकर उनका आंकलन करवाया जाये, तो वह धोखा खा सकता है; पर अन्धा व्यक्ति नहीं। ऐसा तब ही सम्भव हो पाता है कि आँख वाले व्यक्ति की अपेक्षा अन्धे व्यक्ति की चेतनाशक्ति अधिक जाग्रत है। आपने अपने घर में टी.वी. पर महाभारत सीरियल में यदि धृतराष्ट्र के पात्र को देखा हो तो आपने इस बात पर अवश्य ध्यान दिया होगा कि - धृतराष्ट्र की आँखें खुली हुई दिखाई देती हैं ? आँख खुली होने पर भी उसमें दर्शन शक्ति का अभाव है। इसलिये परम्परागत रूप से राजा शान्तनु का उत्तराधिकारी होने पर भी उसके लघु भ्राता पाण्डु को राज्य का उत्तराधिकारी बनाया गया। यह बात पृथक् है पाण्डु राज्य के विस्तार के कारण कुछ समय के लिये धृतराष्ट्र को ही राज्य सौंपकर अन्य राजाओं को जीतकर अपने राज्य का विस्तार करने के लिये चला गया। क्योंकि पाण्डु जानता था कि उसका बड़ा भाई धृतराष्ट्र पराक्रमी और बुद्धिमान् है। मैं उसे जो जिम्मेदारी दे रहा हूँ वह दर्शनशक्ति के अभाव में भी अपने विवेक व ज्ञान से राज्य को ठीक प्रकार से चला लेगा।

पाण्डु के चले जाने के बाद धृतराष्ट्र ने हस्तिनापुर का शासन अनेक वर्षों तक अच्छे प्रकार से चलाया। पर स्थिति तब उलट गई, जब धृतराष्ट्र ने विवेक की आँख को अपने पुत्रमोह के ममत्त्व व स्वार्थ द्वारा बन्द कर लिया। अब उसे पाण्डु के पुत्र स्वपुत्र जैसे नहीं लगते। अब उसे दुर्योधन-दुःशासन जैसे दुष्ट व्यवहार करने वाले स्वपुत्र ही अच्छे लगते हैं। राजा धृतराष्ट्र द्वारा विवेक बुद्धि व चेतना की आँखें बन्द करने

का परिणाम क्या हुआ, उसे यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं है, आप सब उससे परिचित हैं। उपनिषद् का ऋषि संकेत देता है कि मात्र शारीरिक दृष्टि से उठ जाना ही पर्याप्त नहीं है, पर्यप्ति की सम्यक् परिणिति तब ही हो सकती है, जब आपकी चेतना शक्ति जाग्रत हो जाय। इसीलिये वेदभगवान् ने **'उत्तिष्ठत'** शब्द से पूर्व **'सं रभध्वम्'** शब्द का सम्प्रयोग कर, जो संकेत दिया है, उसका अभिप्राय यही है कि - संसार व जीवनरूपी नदी विकट वेगवाली, तीक्ष्ण व चिकने पत्थरों वाली है, आपने यदि अभीष्ट आनन्द की प्राप्ति करनी है, तो इस नदी को पार करना आवश्यक है। पार करने वाले के लिये आवश्यक है कि वह चेतना, ज्ञान-विवेक की जाग्रति अवश्य करे, अन्यथा इस नदी को पार करना असम्भव ही होगा।

राजा भर्तृहरि जी ने संसार व जीवनरूपी नदी का जिस प्रकार से चित्रण किया है, यदि उस पर भी यहाँ विचार कर लिया जाय तो नदी की भयावहता का बोध सरलता से किया जा सकता है। वे लिखते हैं -

आशानाम नदी मनोरथ जला, तृष्णा तरङ्गाकुला।
रागग्राहवती वितर्क विहगा, धैर्य द्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्तसुदुस्तराति गहना, प्रोत्तुङ्ग चिन्ता तटी।
तस्याःपारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः॥

(वैराग्य शतक-42)

अर्थात् - आशारूपी नदी में मनोरथरूपी जल है, तृष्णारूपी लहरें हैं, प्रेमरूपी मगरमच्छ हैं, तर्क-वितर्करूपी पक्षी हैं, जो धैर्यरूपी वृक्ष को गिराने के लिये तत्पर हैं। मोहरूपी आवर्त अर्थात् भंवरें भी हैं, जिसमें असावधानी से मनुष्य एक बार फंस गया तो निकलना अत्यन्त कठिन है। इस विशाल और भयानक नदी में मनरूपी भौंरा पड़ा हुआ है, यही सबसे अधिक चिन्ताजनक बात है। ऐसी दुस्तर ऊँचे तटों वाली नदी को कोई विरला योगी मनुष्य ही पार कर सकता है, सामान्य मनुष्य नहीं।

प्रिय महानुभाव ! वेद भगवान् ने जिस नदी को संसार या जीवन-नदी नाम दिया है, भर्तृहरिजी ने उसे 'आशा' नाम दिया है। आशा शब्द उम्मीद का द्योतक है। संसार में जन्म लेने के बाद जैसे ही बालक की बुद्धि में अनुकूल-प्रतिकूल की समझ की बुद्धि जाग्रत होती है, वह सुख प्राप्त करने की अपेक्षा करता है। यह अपेक्षा, नदी के प्रवाहित होते हुए जल की भाँति निरन्तर आगे बढ़ती ही जाती है और उसमें अनेकानेक कामनाओं का जन्म होता रहता है। महर्षि वेदव्यासजी ने **'आशापाश शतैर्बद्धाः'** कहकर आशा को ही बन्धन माना है। उन बन्धनों से निकलना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। कारण कि प्रायः मनुष्य का जीवन अपेक्षाओं की पूर्णता में अधिक व्यतीत होता है। वह बार-बार यह सोचता हैं कि यदि मेरा यह हो जाये तो फिर वह भी कार्य हो जायेगा। **'यह'** और **'वह'** ऐसा शब्द है जिसमें मनुष्य सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देता है, पर यह-वह ही कभी समाप्त नहीं होती। बालक, उम्र में जैसे-जैसे आगे बढ़ता रहता है, वैसे-वैसे उसकी नित्य नई-नई कामनाओं का वर्द्धन भी होता रहता है। विडम्बना यह कि जिन कामनाओं को वह तृप्त

करने की अभिलाषा में संलग्न रहता है, वे कामनायें कभी भी पूर्ण नहीं होतीं, अपितु आकुलता-व्याकुलता रूपी लहरों को इस प्रकार से उत्पन्न करती हैं कि प्रतीत होता है ये कामनायें येन-केन-प्रकारेण पूर्ण होनी चाहिये। पर कामना-पूर्ति के प्रेम में मनुष्य इस प्रकार आसक्त हो जाता है कि उनका मोह गहरे भंवर की भांति अपने पाश में आबद्ध कर लेता है। उस मोह पाश में मनुष्य इतना पागल हो जाता है कि मानो जैसे पुष्प की कलियों के आस्वादन में भौंरा यह भूल जाता है कि मुझे अपने घर भी जाना है। तब वह उन कलियों में बन्द होने पर भी नई-नई कल्पनायें करता है -

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं,
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयन्ति कोशगते द्विरेफे,
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहारः॥

(कुवलयानन्द)

अर्थात् - रात्रि व्यतीत होगी, जब प्रातः काल होगा, तब कमल की पंखुड़ियाँ खिलेंगी और मैं बहुत-सा पराग का आस्वादनकर, अपने घर लौट जाऊँगा। ऐसे विचारों में भौंरा अभी निमग्न हो ही रहा था कि एक मदमस्त हाथी ने उस तालाब में आकर उसी कमल को अपना ग्रास बना लिया, जिसमें भौंरा बन्द था।

ठीक, वैसे ही मनुष्य के अन्दर बैठा हुआ मनरूपी भौंरा मोह के भंवर में फंसकर विविध प्रकार की कल्पनायें करता रहता है। पर उसकी प्रगाढ़ आसक्ति और मोह का आवर्त्त उसे इस प्रकार आबद्ध कर लेता है कि उस मनुष्य का विवेक मर जाता है और वह अपने लक्ष्य को भूलकर व्यर्थ ही जीवन नष्ट कर, मृत्यु का ग्रास बन जाता है। कहा भी है -

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥

(गीता 16/10)

अर्थात् - सामान्यतः मनुष्य दम्भ, मान, मद, मोह से आबद्ध होकर किसी प्रकार से पूर्ण न होने वाली कामनाओं का आश्रय लेकर, मिथ्या कल्पनाओं का व्यर्थ संग्रह कर, संसार में विचरण करता है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥

(गीता 3/39)

अर्थात् - जो मनुष्य अज्ञान-मोह-मद दम्भादि दोषों से आवृत्त हैं, वे ज्ञानरूपी आँखों के अभाव में विद्वानों को अपना शत्रु मानने लगते हैं, ऐसे कामासक्त लोगों के अज्ञानावरण को नष्ट करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

जबकि आद्य जगत्गुरु शङ्कराचार्यजी **'तृष्णा क्षयः स्वर्गपदं किमस्ति'** (प्रश्नोत्तरी- 2) कहकर तृष्णा व कामासक्ति के क्षय को ही स्वर्ग प्राप्ति का प्रथम साधन माना है। अन्यथा जो मनुष्य कामासक्त है, वह सदैव बद्ध ही है।

अब आप कल्पना कीजिये कि जो मनुष्य संसार रूपी नदी पार करने की इच्छा रखता हो, तो उसको किस-किस प्रकार की बाधाओं व शत्रुओं को दूर करना होगा। उन शत्रुओं से संरक्षित करने के लिए उसे सद्ज्ञान, विवेक व सम्यक् शक्ति के संचय की परम

आवश्यकता होगी, तब कहीं वह अपने मन को लक्ष्य के प्रति दृढ़ बनाने की परिकल्पना कर सकता है, अन्यथा नहीं।

वेदभगवान् ने उस समस्या का समाधान करने के लिये जिस प्रकार से सरलतम उपायों को वेदमन्त्र द्वारा उपस्थित किया है, आईये उस समाधान पर थोड़ा-सा विचारकर, यदि उसे क्रियान्वित करने का प्रयत्न करें तो निश्चित ही हम संसार या जीवनरूपी नदी को आसानी से पार करने में सक्षम हो सकते हैं। प्रस्तुत वेदमन्त्र में जो समाधान उपस्थित किये गये हैं, उनको निम्न प्रकार से समझा जा सकता है –

(1) प्र तरता सखायः –

वेदभगवान् प्रथम उपाय उपस्थित करते हुए संसार के लोगों को सन्देश दे रहे हैं कि – ऐ संसार के लोगो ! यदि तुम्हें नदी पार करने की तीव्र अभिलाषा है तो तुम ऐसे लोगों की सख्यता प्राप्त करो जो इस मार्गपर तुमसे आगे निकल गये हैं। क्योंकि **'महाजनो येन गतः स पन्थाः'** विद्वानों की मान्यता है कि जब मनुष्य स्वयं निर्णय करने में अपने को असहायता की स्थिति में महसूस करे तो उसे श्रेष्ठतम विद्वानों का सानिध्य कर, उनके मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। उसका लाभ यह होगा कि उनका सानिध्य आपको कहीं फिसलने नहीं देगा; पथभ्रष्ट होने नहीं देगा।

यहाँ मन्त्रांशरूप में जिस **'सखायः'** शब्द का प्रयोग किया गया है, यह शब्द **'सखा'** शब्द का विभक्तिरूप है। **'सह समानं ख्यायते'** भाव में **सखा** या **सखायः** शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है – सहचर अथवा श्रेष्ठ मित्र, जो आपको प्रेमपूर्वक लक्ष्य तक पहुँचाने में आपका सहायक हो। संस्कृत भाषा के 'उणादिकोष' नामक ग्रन्थ में **'समानं ख्यातीति सखा सखायौ सखायः मित्रं सहायो वा'** कहकर लक्ष्य की ओर ले जाने वाले प्रेरक-श्रेष्ठबुद्धि प्रदाता को सखा माना है।

संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् महाकवि कालिदासजी ने जब **'रघुवंश-महाकाव्यम्'** नामक ग्रन्थ लिखा, तो उसमें अनेक स्थलों पर **'सचिवः सखः'** शब्द का प्रयोग कर, यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि संसार में सखा ही मनुष्य का सच्चा मन्त्री बनने योग्य होता है। मन्त्री का कार्य है कि वह राजा को उचित परामर्श दे; उसी प्रकार सखा का कर्त्तव्य है कि वह अपने साथी मित्र को उचित परामर्श-प्रेरणा देकर उसका सहयोग करे। किन्हीं दो मनुष्यों के मध्य में सख्यता का सम्बन्ध तभी स्थापित हो सकता है, जबकि उसका लक्ष्य एक हो। उन दोनों मनुष्यों का मतैक्य सहयोगात्मक प्रवृत्ति का संवर्द्धन करता है। उसका परिणाम यह कि वह लक्ष्य को अकेले ही प्राप्त नहीं करना चाहता, अपितु अपने साथी को भी अपने साथ लक्ष्य तक ले जाना चाहता है। उसकी सहचरात्मक, अनुकरणात्मक, व्यवहारात्मक प्रवृत्ति का प्रभाव यह होता है कि वे एक-दूसरे के सम्बल बनकर, मार्ग के अवरोधों से परे होकर, उन्हें दूर करते हुए, एक-दूसरे के सहायक बनकर आगे बढ़ते जाते हैं और लक्ष्य को प्राप्त करके ही दम लेते हैं।

अब आप कल्पना कीजिये कि जिन मनुष्यों को नदी पार करने की इच्छा है, यदि उनके श्रेष्ठतम सखा होंगे तो क्या वे अपने सखा को भंवर के मध्य ही छोड़ देंगे ? यदि नहीं.., तो निश्चित है कि वे नदी पार कराने में अवश्य ही सहायक होंगे। कवि गिरिधरजी ने लिखा है –

सुख-दुःख अरु विग्रह-विपत, यामें तजे न सङ्ग।
गिरिधर ऐसे बखानिये, मित्र सोह वर ढंग॥

यहाँ एक बात और ध्यान देने के योग्य है कि जब मित्र-मित्र एक-दूसरे का सहयोग कर, नदी पार करने का प्रयत्न कर रहे हों, तो उस अवस्था में यदि एक-दूसरे का सानिध्य एकाध क्षण के लिये नदी की तीव्र लहर के कारण पृथक् भी हो जाये तो कुछ गुणों की पूँजी सखित्त्व के रूप में नदी पार करने वाले को सञ्चित अवश्य कर लेनी चाहिये, जिसका संकेत गोस्वामी तुलसीदासजी ने दिया है। वे लिखते हैं –

तुलसी असमय के सखा, धीरज धर्म विवेक।
साहित साहस सत्यव्रत, राम भरोसो एक॥

अर्थात् – मनुष्य कितनी ही बड़ी से बड़ी विपत्ति में हो, यदि धैर्य, धर्म, सद्विवेक, श्रेष्ठ लक्ष्य, साहस, सत्य संकल्प और परमात्मा पर पूर्ण आस्था हो, तो वह निश्चित ही लक्ष्य प्राप्त करने में सक्षम होगा।

अभिप्राय यह है कि **'सम प्राणः सखा मतः'** जिनके प्राण, कर्म, क्रिया, लक्ष्य सम होंगे और जिनमें सहयोग की भावना होगी, उनका यह कार्य कठिनता को भी सहजता में परिवर्तित कर देगा। इसलिये वेदभगवान् संसार के मनुष्यों को नदी पार करने का समाधान बतलाते हुए कह रहे हैं – **'प्र तरता सखायः'** जो सख्यता के व्यवहार से युक्त हैं, ऐसे मनुष्य ही नदी को पार कर व करा सकते हैं, अन्य नहीं।

(2) अशिवा जहीमः –

वेद भगवान् द्वितीय उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि जो अशिव=अकल्याणप्रद गुण-कर्म-स्वभाव और पदार्थ हैं, उनको त्याग दो। अर्थात् जितने भी व्यर्थ के बोझ हैं, उन्हें अपने जीवन से पृथक् कर दो। अहा !!! कितना सरल उपाय है, पर इस उपाय को क्रियान्वित करना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि जब हम अकल्याण-प्रद वस्तुओं का संग्रहकर, उसी वातावरण में जीने के पूर्णरूप से अभ्यस्त हो चुके हों, तो उन्हें छोड़ना सहज नहीं होता। उदाहरण के लिये – कौन नहीं जानता कि अधिक काम, क्रोध, मद, मोह जीवन के शत्रु हैं। हम समय-समय पर अपने व दूसरों के व्यवहार में उनके परिणामों का अनुभव भी करते रहते हैं, पर क्या हमने उनको अपने जीवन से पृथक् किया ? हमें ज्ञात है कि अधिक क्रोध दूसरे के लिये ही अहितकर नहीं, अपितु स्वयं के लिये भी अहितकर होता है, पर क्या हम उसे छोड़ सके ? विडम्बना यह है कि जानते हुए भी इन शत्रुओं से पृथक् होने का न हमने कभी लक्ष्य बनाया और न कभी प्रयत्न किया। जबकि भगवान् श्रीकृष्णजी कहते हैं –

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(गीता 16/21)

भगवान् श्रीकृष्णजी ने काम-क्रोध और लोभ को नरक का द्वार बतलाया है। अब आप

विचार कीजिये कि जब हम स्वर्ग प्राप्ति की कामना कर रहे हों, आनन्दमय धाम का लक्ष्य बनाकर बैठे हों, नदी पार करने के कार्य में संलग्न हों, तो क्या आवश्यक नहीं है कि ऐसे शत्रुओं से अपने को पृथक् रखा जाय ? जब हम किसी यात्रा पर जाने का कार्यक्रम निश्चित करते हैं तो घर को उठाकर नहीं ले जाते, अपितु उन आवश्यक वस्तुओं को अपने साथ रखने का प्रयास करते हैं जिनकी जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यकता है। क्योंकि अधिक बोझ स्वयं के लिये ही एक समस्या है। समझदार मनुष्य वह होता है जो कम से कम बोझ को अपने साथ लेकर चले। इसी प्रकार नदी पार करने की आकांक्षा करने वाला मनुष्य यदि अशिव पदार्थों का बोझ अपने ऊपर रख लेगा, तो नदी पार करना कठिन हो जायेगा। हो सकता है कि वह लक्ष्य तक भी न पहुँच पाये। इन्हीं अशिव व शिव पदार्थों को गीता में आसुरी व दैवी सम्पत्ति कहकर स्पष्ट किया गया है –

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ॥

(गीता 16/5)

दैवी सम्पदा मुक्ति के लिये है और आसुरी सम्पदा बन्धन के लिये है। जब तक मनुष्य आसुरी भावों दुर्गुणों, दुव्यसनों से अपने को पृथक् नहीं करता, तब तक वह सुखद परिणाम प्राप्त नहीं कर सकता।

यही भाव अभिव्यक्त करते हुए वेद भगवान् कहते हैं कि जो अशिव हैं, अकल्याणप्रद हैं, उन व्यर्थ के बोझों को हटाकर अपने को हल्का बना लो, और उन वस्तुओं को अपने साथ संजोलो जो लक्ष्य प्राप्ति में सहायक हों। इसके लिये वेदभगवान् अगला उपाय उपस्थित करते हुए कहते हैं –

(3) शि॒वान् अस॑न् –

अर्थात् – जो शिव = कल्याणप्रद वस्तुएँ हैं, उन्हें अपने साथ लेकर चलो। याद रखो, जैसे अशिव वस्तुएँ व्यर्थ की बोझ हैं, वैसे ही शिव वस्तुएँ उतनी ही अधिक सहायक होती हैं। उदाहरण के लिये यदि नदी पार करने वाले ने एक बोझ की गठरी अपने ऊपर रख ली और दूसरे ने अपने साथ हवा भरा हुआ ट्यूब ले लिया तो जिसने ट्यूब लिया है, उसका वह पदार्थ सहायक होगा और जिसने बोझ की गठरी ले रखी है, वह बोझ के कारण तरने में असमर्थ होगा। तब क्या हमें यह नहीं सोचना चाहिये कि जब आत्मा अनन्त की यात्रा पर जन्म-जन्मान्तरों में विचरण करते हुए किसी आनन्दधाम तक पहुँचने के कार्य में संलग्न हो, तो हम व्यर्थ के बोझ से अपने को पृथक् कर लें। अरे ! इन अशिव पदार्थों को हटाकर उन दैवी सम्पदाओं का साथ लें जो नदी पार करने में सहायक हों। यथा – अहिंसा, अन्तःकरण की स्वच्छता, तत्त्वज्ञान की दृढ़ता, दान, इन्द्रिय दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, सत्य, अक्रोध, अदम्भ, शान्ति, अचाञ्चल्य, दया, कोमलता, लज्जा, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, अद्रोह, स्वपूजा का अभाव आदि-आदि।

जब मनुष्य दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता जैसे अवगुणों को दूर कर, दिव्य गुणों से अपने जीवन को भर लेगा, तो यह दिव्यतायें उसके जीवन को इतना निर्मल और हल्का बना

देंगीं कि उसका लक्ष्य सहज में ही पूर्ण हो जायेगा। बस इतना और ध्यान रख लें कि –

(4) अभि वाजान् –

अर्थात् – अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को उस कार्य में संलग्न कर लें, जिसका आपने लक्ष्य निर्धारित कर रखा है।

आपने ऐसे अनेकों लोगों को देखा होगा कि जिनमें योग्यता व क्षमतायें विद्यमान हैं, फिर भी वे असफल हो जाते हैं। असफल होना मात्र योग्यता का अभाव नहीं है, वरन् अपनी क्षमताओं का सम्यक् उपयोग न करना भी है। आपके पास समस्या का समाधान करने का ज्ञान है, आपको ज्ञात है कि किसी नदी पार करनेवाले को किस-किस प्रकार से क्रियायें करनी चाहिये, पर नदी पार करने से पूर्व ही यदि आपका मन भय से ग्रसित हो जाय, तो उस भय का विचार आपकी योग्यता को सन्देह में परिवर्तित अवश्य कर देगा। संशय और भ्रान्ति जिस प्रकार से आन्तरिक जगत् में भय का वातावरण उत्पन्न करते हैं, उसका परिणाम यह होगा कि ऐसे मनुष्य की निर्णय-क्षमता कुण्ठित हो जाती है और वह अपनी योग्यता पर स्वयं ही प्रश्नचिह्न खड़ा कर लेता है। उस स्थिति में वह पलायनवाद के मार्ग का अवलम्बन लेकर लक्ष्य को छोड़ देना ही श्रेष्ठ मान बैठता है। इसके लिये अर्जुन से अच्छा उदाहरण और क्या हो सकता है ? महाभारतकाल में अर्जुन श्रेष्ठतम धनुर्धर है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ से पूर्व न जाने उसने कितने राजाओं को अपने अधीन कर उनसे धन प्राप्त कर युधिष्ठिर के चरणों में रख दिया था, पर आज वह युद्ध के मैदान में अपने परिजनों से युद्ध की परिकल्पना करते-करते मोह में ऐसा आबद्ध हो गया है कि वह युद्ध करने के स्थान पर अपने गाण्डीव को ही उतार, भगवान् श्रीकृष्णजी के समक्ष ब्राह्मणों की भांति भिक्षाटन कर, जीवन व्यतीत करने की दुहाई देने लगता है। क्या उस समय अर्जुन के पास पराक्रम नहीं था, शक्ति नहीं थी या बुद्धि नहीं थी ? सब कुछ था, पर मोहरूपी शत्रु के अन्तःकरण में प्रवेश करते ही अर्जुन पथभ्रष्ट बनकर बैठ गया। यदि भगवान् श्रीकृष्ण जैसा श्रेष्ठतम सखा अर्जुन का न होता तो अर्जुन कैसे विजय प्राप्त कर पाता ? अपनी सुप्त शक्तियों को कैसे जाग्रत करता ? इसका अभिप्राय यह है कि आन्तरिक शत्रु हमारी क्षमताओं व योग्यताओं का हनन करते हैं।

दूसरा कारण यह है कि जब हम अपनी क्षमताओं का सङ्गठित रूप में सम्प्रयोग नहीं कर पाते तो हमारी क्षमता, अक्षमता में परिवर्तित हो जाती है। इसलिये वेदमन्त्र का अन्तिम पद **'अभि वाजान्'** यह सन्देश दे रहा है कि अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का उपयोग करो। आपका मन-बुद्धि-शरीर का बल जब आत्मिकबल के साथ संयुक्त हो जायेगा, तो फिर कौन-सा ऐसा लक्ष्य होगा, जो पूरा नहीं किया जा सकता ? इसका निष्कर्ष यह हुआ कि साधन-उपसाधन योग्यता-क्षमता होने पर भी यदि उनका सङ्गठित रूप से उपयोग करना नहीं आया, तो फिर असफलता ही हस्तगत होगी। इसलिये आवश्यकता है कि हम अपनी क्षमता योग्ताओं का सम्यक् उपयोग करना सीखें, तभी संसार वा जीवनरूपी नदी को पार कर सकेंगे। ❑

महर्षि क्या चाहते थे ?

ओमप्रकाश शास्त्री
(दिल्ली)

महर्षि दयानन्द क्या चाहते थे ? इसका पूर्ण तथा स्पष्ट उत्तर तो महर्षि द्वारा लिखित ग्रन्थों की प्रत्येक पंक्ति अथवा शब्दों के अध्ययन तथा मनन करने से ही मिल सकता है।

– प्राणिमात्र का कल्याण –

यदि महर्षि के लक्ष्य को सार रूप में कहा जाय तो दृढ़ता के साथ यह कहा जा सकता है कि वह प्राणीमात्र का कल्याण चाहते थे। उनकी भावनाओं को किसी एक जाति, सम्प्रदाय तथा देश के साथ जोड़ना, उनके साथ घोर अन्याय करना है। बहुत से अज्ञानी लोग आर्यजाति के उत्थान-पतन के सम्बन्ध में समय-समय पर व्यक्त की गयी उनकी वेदनाओं के आधार पर उन्हें एक देश-जाति अथवा सम्प्रदाय के साथ बांधने की धृष्टता करते हैं; परन्तु उन्हें ज्ञात होना चाहिये कि उनकी इस वेदना का एक ही कारण था कि सृष्टि के आदिकाल में ईश्वर ने जिस देश अथवा जाति को अपना ज्ञान प्राणीमात्र के कल्याणार्थ दिया, उसकी दयनीय अवस्था उनसे देखी नहीं गई, और उनका यह दृढ़ मत था कि यदि ईश्वरीय वैदिक ज्ञान के आधार पर संसार का कल्याण करना है तो उन्हें इसका प्रारम्भ आर्यजाति तथा आर्यावर्त्त देश से ही करना होगा, क्योंकि वही जाति आज भी इस ज्ञान के समीप है।

संसार का कल्याण ही महर्षि का लक्ष्य था, इसका स्पष्ट तथा प्रबल प्रमाण यह है कि महर्षि ने आर्यसमाज की स्थापना जिस दृढ़ आधारशिला पर की, वह आधारशिला आर्यसमाज के दस नियम हैं। इन नियमों में से एक भी ऐसा नहीं है कि जो किसी देश अथवा जाति से सम्बन्धित हो, अपितु उन्होंने छठे नियम में स्पष्ट कर दिया है कि –

"संसार का उपकार करना आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।"

महर्षि द्वारा भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों और मुख्यतः इस्लाम तथा ईसाई धर्म के खण्डन को देखकर लोग उन्हें साम्प्रदायिक समझने की बहुधा भूल किया करते हैं, परन्तु उन्हें ज्ञात होना चाहिये कि इन मतों की अपेक्षा उन्होंने हिन्दुओं के मत-मतान्तरों तथा अन्धविश्वासों की कहीं अधिक तीव्रता तथा कठोरता के साथ खण्डन किया है। इन मतों के खण्डन के पीछे भी महर्षि की जो मानव-कल्याणकारी भावना छिपी थी, वह उन्हीं के शब्दों के पढ़ने योग्य है; अर्थात् –

"... यह लेख केवल मनुष्यों की उन्नति और सत्यासत्य के निर्णय के लिए सब मतों के विषयों का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान होवे। इससे मनुष्य को परस्पर विचार करने का समय मिले और

एक-दूसरे के दोषों का खण्डन कर, गुणों को ग्रहण करें। न किसी अन्य मत पर, न इस मत पर झूठ-मूठ बुराई वा भलाई लगाने का प्रयोजन है, किन्तु जो-जो भलाई है, वही भलाई और जो-जो बुराई है वही बुराई सबको विदित होवे। न कोई किसी पर झूठ चला सके और न सत्य को रोक सके और सत्यासत्य विषय प्रकाशित किये पर भी जिसकी इच्छा हो वह न माने वा माने, किसी पर बलात्कार नहीं किया जाता। और यही सज्जनों की रीति है कि अपने व पराये दोषों को दोष और गुणों को गुण जानकर गुणों को ग्रहण और दोषों का त्याग करें और हठियों का हठ, दुराग्रह न्यून करे करावें; क्योंकि पक्षपात से क्या-क्या अनर्थ जगत् में न हुए और न होते हैं ? सच तो यह है कि हम अनिश्चित क्षणभंगुर जीवन में पराई हानि करके लाभ से स्वयं रिक्त रहना और अन्य को रखना, मनुष्यपन से बाहर है। ... यह लेख हठ, दुराग्रह, ईर्ष्या-द्वेष, वाद-विवाद और विरोध घटाने के लिये किया है, न कि इनको बढ़ाने के अर्थ।"

इन्हीं सद्भावना को सम्मुख रखकर महर्षि ने दिल्ली दरबार के समय सर सैयद अहमद खाँ के सहयोग से संसार का सर्वप्रथम सर्वधर्म-सम्मलेन बुलाया था, ताकि सच्चे मानव धर्म का निर्णयकर संसार का कल्याण किया जा सके; परन्तु शोक कि स्वार्थान्ध लोग महर्षि की भावना का आदर न कर सके।

मानवमात्र के कल्याण तक ही महर्षि सीमित रहे हों, सो बात नहीं है; अपितु सर्वप्रथम यदि उनकी लेखनी से कोई शब्द निकला हो तो वह मूक प्राणी जगत् के कल्याणार्थ **'गौ करुणानिधि'** के रूप में निकला। कितनी वेदना व दर्द भरा था उनके हृदय में, इन असहाय पशुओं के लिये; यह निम्न पंक्तियों में देखिये -

"गौ आदि पशुओं के नाश होने से राजा और प्रजा का भी विनाश हो जाता है।"

"हे मांसाहारियो ! तुम लोग जब कुछ काल के पश्चात् पशु न मिलेंगे, तब मनुष्यों का भी मांस छोड़ोगे वा नहीं ? हे परमेश्वर ! तू क्यों इन पशुओं पर, जो कि बिना अपराध मारे जाते हैं, दया नहीं करता ? क्या उन पर तेरी प्रीति नहीं है ? क्या इनके लिये तेरी न्यायसभा बन्द हो गई है ? क्यों उनकी पीड़ा छुड़ाने पर ध्यान नहीं देता और उनकी पुकार नहीं सुनता ? क्यों इन मांसाहारियों के आत्माओं में दया-प्रकाश कर निष्ठुरता, कठोरता, स्वार्थपन और मूर्खता आदि दोषों को दूर नहीं करता ?"

- चतुर्मुखी क्रान्ति -

मानव समाज का वैदिक संस्कृति के आधार पर नवनिर्माण करना महर्षि का एक लक्ष्य था। इसके लिये समाज के धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक सभी क्षेत्रों में क्रान्ति करने के वह पक्षपाती थे। एकाङ्गी क्रान्ति उनकी दृष्टि में निरर्थक थी, इसीलिये उन्होंने अपने जीवनकाल में ही जहाँ एक ओर विधर्मियों से शास्त्रार्थ किये तो दूसरी ओर राजाओं को उनके धर्म का ज्ञान कराने की चेष्टा की। अपने घोषणा-पत्र **"सत्यार्थप्रकाश"** के छठे समुल्लास में उन्होंने राजनीति पर ही प्रकाश डाला। जो व्यक्ति आज आर्यसमाज को केवल

धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित रखने की चेष्टा करते हैं, वे सचमुच महर्षि के साथ विश्वासघात करते हैं। समाज के धार्मिक-आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में किस प्रकार की क्रान्ति महर्षि चाहते थे, वह निम्न प्रकार है -

- धार्मिक क्रान्ति -

महर्षि का विश्वास था कि जिस प्रकार अग्नि-जल आदि वस्तुओं का एक धर्म होता है, उसी प्रकार मानवमात्र का एक ही धर्म हो सकता है। उनकी दृष्टि में वैदिकधर्म ही वह धर्म है, जिसे संसार के समस्त मानवों को अपनाना चाहिये। इस क्षेत्र के लिये जो क्रान्तियन्त्र उन्होंने निर्धारित किया, वह यह था कि -

"सत्य को ग्रहण करने और असत्य को त्यागने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।"

निस्वार्थ-भावना से सत्यविद्या का प्रसार तथा शास्त्रार्थ उनकी इस क्रान्ति के दो महान् शस्त्र हैं, जिनके सहारे यह क्रान्ति होनी सम्भव है।

- सामाजिक क्रान्ति -

महर्षि ऐसे आदर्श समाज की रचना चाहते थे कि जो पृथ्वी को अपनी माता और ईश्वर को अपना पिता समझे और विश्व-बन्धुत्त्व की भावना से ओतप्रोत हो। रङ्गभेद, मत-मतान्तर, भौगोलिक तथा आर्थिक संकीर्ण साम्प्रदायिकता से जो दूर हो और जिसमें सब मनुष्य सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहें और प्रत्येक हितकारी नियम के पालन में सब स्वतन्त्र रहें। समाज के वर्त्तमान आर्थिक वर्गीकरण के वह सख़्त विरोधी थे और मनुष्यों के गुण-कर्म-स्वभाव पर आधारित वर्गीकरण के वह पक्षपाती थे। अतः उनकी सामाजिक क्रान्ति का मूल मन्त्र था - **"वर्णाश्रम व्यवस्था की पुनः स्थापना"** और आदर्श था **"सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्"**। आदर्श समाज के निर्माणार्थ वह मनुष्य निर्माण पर अधिक बल देते थे। इसलिये उन्होंने **"संस्कारविधि"** ग्रन्थ का निर्माण किया।

- आर्थिक क्रान्ति -

अन्याय, अत्याचार तथा शोषण के आधार पर धनोपार्जन को महर्षि महापाप समझते थे और श्रमिकों के प्रति उनके हृदय में अपार श्रद्धा व प्रेम था और उनके साथ वह उचित व्यवहार करने के पक्षपाती थे। उदाहरणार्थ - सत्यार्थप्रकाश में महर्षि राजाओं पर लिखते हैं -

"राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है। जो कर (Tex) के रूप में भी धन लेवे तो उस प्रकार लेवे कि जिससे किसान आदि खाने-पीने और धन से रहित होकर दुःख न पावें।"

महर्षि की आर्थिक क्रान्ति का मूलमन्त्र था - **"प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।"** गौ उनके आर्थिक ढांचे का मूल आधार थी और वह बड़ी मशीनों की अपेक्षा छोटी मशीन अथवा गृहउद्योग के पक्षपाती थे। पूँजी का विकेन्द्रीकरण करना उनका लक्ष्य था। प्रत्येक राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी हो, ऐसी उनकी धारणा थी। अतः स्वदेशी वस्तुओं को धारण

करने के वह पक्ष में थे। उदाहरणार्थ – **सत्यार्थप्रकाश** में महर्षि लिखते हैं –

"जब स्वदेश ही में स्वदेशी लोग व्यवहार नहीं करते और परदेशी स्वदेशी में व्यवहार करें तो बिना दारिद्र्य और दुःख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता।"

– राजनैतिक क्रान्ति –

राजनैतिक क्षेत्र में महर्षि प्रजातन्त्र के पक्षपाती और एकतन्त्र के विरोधी थे। परन्तु महर्षि का प्रजातन्त्र वर्त्तमान प्रजातन्त्र से सर्वथा भिन्न था। उनके प्रजातन्त्र में योग्य व्यक्ति ही चुनाव के लिये खड़ा हो सकता है और चुनने का प्रत्येक को अधिकार होता हुआ भी योग्यतानुसार वोटों का मूल्य भिन्न-भिन्न होना चाहिये। उनकी दृष्टि में चारों वेदों के सदाचारी विद्वान् की सम्मति सैकड़ों मूर्खों से अधिक थी। सत्यार्थप्रकाश में महर्षि लिखते हैं –

"यदि एक अकेला सब वेदों का जाननेहारा द्विजों में उत्तम संन्यासी जिस धर्म की स्थापना करे, वही श्रेष्ठ धर्म है; क्योंकि अज्ञानियों के सहस्त्रों, लाखों, करोड़ों मिल के जो व्यवस्था करें, उसको कभी न मानना चाहिये।"

महर्षि साम्राज्यवाद के घोर विरोधी थे, परन्तु विश्वशान्ति के निमित्त एक विश्व सत्कार के वह पक्षपाती थे। उदाहरणार्थ महर्षि सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं –

"चाहे कोई कितना ही कहे, परन्तु स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि होता है। अथवा मत-मतान्तर के आग्रहरहित अपने और पराये का पक्षपात-शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, दया और न्याय के साथ भी विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायी नहीं हो सकता।" दूसरे स्थान पर वह लिखते हैं कि –

"मनुष्य को दो प्रयोजन सामने रखकर उसकी पूर्ति के लिये व्यवहार करना चाहिये। पहिला यह कि अत्यन्त पुरुषार्थ करके शरीर को स्वस्थ रख के वह चक्रवर्ती राज्यरूपी श्री का सम्पादन करे और दूसरा यह कि सब विद्याओं को पढ़कर सब जगह उनका प्रचार करे।"

विदेशनीति में वह "सबके साथ प्रीति पूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य व्यवहार के समर्थक थे।" इस प्रकार महर्षि वर्तमान राजनीति का वैदिकीकरण करना चाहते थे, इसीलिये वह राजाओं को अपने समीप लाने की भरसक चेष्टा कर रहे थे और इसी प्रयत्न में उन्हें अपना बलिदान देना पड़ा।

अतः आशा है कि आर्यजन आर्यसमाज को केवल विधवाविवाह, छूतछात, मूर्तिपूजा खण्डन, साप्ताहिक सत्सङ्गों तक ही सीमित न रखकर, महर्षि की इस चतुर्मुखी योजना को प्राणीमात्र के कल्याणार्थ क्रियात्मक रूप देने का साधन बनायेंगे अन्यथा आर्यसमाज को किसी भी अवस्था में प्रगति प्रदान न कर सकेंगे। ❐

*** महर्षि वेदव्यास उवाच ***

तानलज्जान् गतह्रीकान् हीनवृत्तान् वृथाव्रतान्।
क्षमा लक्ष्मीः स्वधर्मश्च न चिरात् प्रजहुस्ततः॥

(महा0 वन0 94/9)

अर्थात् – लज्जा, संकोच और सदाचार से हीन तथा निष्फल व्रताचरण करने वाले लोगों को क्षमा, लक्ष्मी और स्वधर्म शीघ्र त्याग देता है।

भारतीय-संस्कृति की झांकी

हरिमोहनलाल श्रीवास्तव
(एम.ए. एल.एल.बी. एल.टी.)

'संस्कृति' से अभिप्राय उन नैतिक आदर्शों से होता है, जिन पर किसी समाज का जीवन निर्भर करता है। धार्मिक विश्वासों और सामाजिक लोकाचारों के रूप में संस्कृति की धारा निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। किसी भी देश की भाषा और साहित्य पर उस समाज की संस्कृति के आदर्शों की छाप रहती है। भारतीय साहित्य में धार्मिकता और दार्शनिकता के भावों की प्रधानता रही है। यहाँ के निवासी भौतिकता से दूर रहकर आध्यात्मिकता को महत्त्व देते रहे हैं। गंवार से गंवार व्यक्ति भी इस भारतभूमि में इस लोक की अपेक्षा उस दूसरे लोक की चिन्ता अधिक करता दिखाई देता है। आर्य-संस्कृति को अपना मूलाधार बनाने वाली भारतीय संस्कृति ईश्वर और धर्म में पूर्ण आस्था रखती है। धर्माचरण द्वारा ईश्वर को प्रसन्न रखने से ही दोनों लोक सुधरने की बात यहाँ प्रत्येक मनुष्य के रक्त में भलीभांति मिली हुई है। **'आत्मवत् सर्व भूतेषु'** के सिद्धान्त के अनुसार सभी प्राणियों को अपना जैसा समझना, निष्काम कर्म करते हुए समस्त संसार के हित के लिये तत्पर रहना तथा दिव्यज्ञान की प्राप्ति में तल्लीन रहना, यहाँ जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

'आचारः परमो धर्मः' के महामन्त्र द्वारा ऋषियों ने सदाचार में ही मानवता की प्रतिष्ठा देखी है। सेवा-धर्म पर बल देने वाली भारतीय संस्कृति ने व्यक्तियों को स्वार्थ से ऊँचा कर परमार्थ का पाठ पढ़ाया है। **'सर्वभूत हिते रता'** के महामन्त्र के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को समस्त जीवधारियों के कल्याण में लीन रहना चाहिये। भारत की इस उदार संस्कृति के अन्तर्गत 'हिंसावाद' के लिये तनिक भी स्थान न रहा। भारतभूमि के महापुरुषों ने मानवता की रक्षा से प्रेरित होकर ही दुष्टों का संहार किया।

सम्पूर्ण सुखों का त्यागकर, आत्मोत्सर्ग के द्वारा धर्म और नीति की रक्षा करना, भारत के प्रत्येक समर्थ नागरिक का प्रमुख कर्त्तव्य है। प्राणों के मोह पर विजय पाना सरल नहीं, परन्तु भारतीय संस्कृति ने देश और समाज के लिये प्राणों को हथेली पर लिये रहने के ज्वलन्त आदर्श का प्रदर्शन अनेक अवसरों पर किया है। शिवि और दधीचि के दान और त्याग की कहानियां आज भी आर्यजीवन में गूँज रही हैं। सच्चे वीरत्त्व से अनुप्राणित हमारी भारतीय संस्कृति की निष्ठा इस बात से बराबर रही है कि जीवन एक पवित्र धरोहर है। जीवन में ऐसा कुछ अवश्य किया जाना चाहिये, जिससे व्यक्ति को सदैव आदर के साथ स्मरण किया जाय। कर्त्तव्य-पालन में प्राणों का मोह नहीं होना चाहिये; क्योंकि वीर पुरुष के प्राण केवल एक

बार ही निकलते हैं। मनुष्य कायरों की भांति अनेक बार क्यों मरे ?

सत्य और **अहिंसा** के प्रति ममत्त्व का पाठ पढ़ाने वाली भारतीय-संस्कृति ने ठगने की अपेक्षा ठगाये जाने में ही आनन्द माना है। हरिश्चन्द्र के इस देश में राजपूतों ने वीरता के साथ सच्चाई का सुन्दर मेल कर दिखाया। गौ और ब्राह्मण के ये अनन्य पुजारी कई बार धोखा खाकर रह गये, परन्तु इन्होंने धूर्तता को नहीं अपनाया। छत्रपति शिवाजी ने उसी का थोड़ा-सा बदला लेने के लिये कुछ व्यावहारिक कूटनीति को अपनाया, परन्तु उन्होंने दूसरे मत की धर्मपुस्तकों और अन्य मत वाले स्त्री-बच्चों का मान बनाये रखा। धार्मिक सहिष्णुता हमारी भारतीय संस्कृति का मूलाधार है। कट्टर साम्प्रदायिकता यहाँ कभी न पनप सकी।

अतिथि-सत्कार का भाव प्रत्येक भारतीय गृहस्थ के हृदय में कुछ ऐसी जड़ें जमाकर बैठा है कि आज देश में हट्टे-कट्टे भिखमंगों की भारी जमात खड़ी हो गयी है। शरणागत की रक्षा के लिये यहाँ कितने ही मर मिटे हैं। दान-औदार्य चरित्र के भूषण हैं, परन्तु पात्र की योग्यता पर भी हमें उचित ध्यान देना चाहिये। सहायता के योग्य दीन-हीन व्यक्तियों को हमें दान देना चाहिये, किन्तु अयोग्य व्यक्तियों को दिये जाने वाले दान का यदि थोड़ा-सा भाग दुष्कर्मों में लगता है, तो उसका दोष दाता को भी लगे बिना नहीं रह सकता।

भारतीय संस्कृति में नारी को विशेष गौरव का स्थान मिला है। **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'** हमारी संस्कृति का एक विशाल लक्षण है। मनु महाराज ने बलपूर्वक कहा है - 'जिस गृह में नारी का सम्मान होता है, उसमें देवता वास करते हैं।' भारतीय नारी एक बार पति के रूप में जिसका वरण कर लेती है, आजीवन उसकी ही बनकर रहती है। भारतीय नारियों के लिये पति ही देवता है। जौहर की ज्वाला में जीते-जी जल जाने वाला दिव्यप्रेम इसी देश का अपना गौरव है। आज भी भारतीय नारी लज्जा, शील और सेवा की प्रतिमूर्त्ति है। अन्धे और बहरे, कोढ़ी और रोगी पति की सेवा में जीवन को उत्सर्ग कर देना भारत की ही आन है। आज की बदली हुई परिस्थितियों में साधना की कुछ कमी के कारण कहीं-कहीं यह श्रद्धा अनर्थ की जड़ समझी गयी है। अतः आज के समाज-सुधारकों ने तलाक आदि की व्यवस्था सोच निकाली है।

परिस्थितियों के अनुसार समाज-सुधार की ओर ध्यान दिया जाना, अनुचित नहीं ठहराया जा सकता; किन्तु सुधार क्रमिक और संतुलित होने से ही देश और समाज के कल्याण की आशा की जा सकती है। नवीनता से किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये, परन्तु यह नवीनता हमें अनैतिकता और मात्र भौतिकता की ओर ले जाने वाली भी न हो। भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व हैं - **नैतिकता** तथा **आध्यात्मिकता।** आज के सुधारकों को इतना समन्वय कर रखना चाहिये कि वे नैतिकता और आध्यात्मिकता के साथ ही इस लोक में समुचित सुविधायें उपलब्ध कर रखें। घड़ी का पेन्डुलम् या लटकन एक

ओर से हटकर बिल्कुल दूसरे छोर पर न जा पहुंचे, यह ध्यान हमें बना रहना चाहिये। जिस भारतीय संस्कृति ने कभी भूमण्डल पर प्रेम और प्रकाश की किरणें छिटकाई थीं, वही आज अनेक घात-प्रतिघातों के कारण अपने अस्तित्त्व को भुला बैठी है। उसकी व्यापकता ने बहुत समय तक विभिन्न संस्कृतियों को अपने उदर में पचाया है, किन्तु दीर्घकालीन पराधीनता से भारतीयों का आत्म-गौरव नष्ट हो गया।

पाश्चात्य-संस्कृति के सम्पर्क में आज भारतवासी अपना सब-कुछ भुला बैठे हैं। आत्माभिमान नष्ट होने के साथ ही उनके नैतिक पतन का मार्ग प्रशस्त हुआ। भारतीय नारियों ने फिर भी अपने धर्म की बहुत-कुछ रक्षा की, तथापि अविद्या के अन्धकार में देर तक बनी रहने के कारण, वे भी दूषित प्रभाव से बच न सकीं। विलासिता की ओर दौड़ में आज के अधिकांश स्त्री-पुरुषों के बीच एक भयङ्कर होड़ लगी हुई है। सिनेमा के भद्दे चित्रों और गानों ने पतन के गहरे गड्ढे खोद रखे हैं। एक बड़ी समस्या सामने है कि नई पौध को इस विष-बुझी खाद से कैसे बचाया जाय ? पुराने खेवे के बूढ़े तो कुछ-कुछ कोरी कामरे के समान हैं, जिन पर सिनेमा-टी.वी.-इंटरनेट का कोई चमकीला रङ्ग नहीं चढ़ सकता।

आज जब भारत स्वतन्त्र है, उसे अर्जित स्वाधीनता को सुदृढ़ता प्रदान करने के निमित्त अपनी संस्कृति से प्रेम जगाना ही होगा। भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत विभिन्न विचार धाराओं का आदर आवश्यक होगा। हमारी संस्कृति पहले से ही विभिन्नताओं के बीच एकता देखने पर बल देती है और वह सबकुछ पचा रखने में सर्वथा समर्थ है। महात्मा गान्धी ने कहा था - **'कोई भी संस्कृति, जो अलग रहने का प्रयास करती है, जीवित नहीं रह सकती।'** संस्कृति का अर्थ है - व्यक्ति का चतुर्दिक विकास। यदि हम आज की परिस्थितियों के अनुरूप सभी उपयोगी सामाजिकता को अपनाते हुए अपने वास्तविक गौरव की रक्षा के लिये सतत जागरूक रहें, तो कोई कारण नहीं कि हमारी संस्कृति आज भी अपना योग्य प्रभाव न सिद्ध कर सके। अनेक निराशाओं के बीच भी उज्ज्वल भविष्य हमारे स्वागत के लिये प्रस्तुत है। निश्चय ही आर्य-संस्कृति इस देश में प्रथम-स्थान प्राप्त करके रहेगी, ऐसा विश्वास है। ❐

अभिनव-भारत

(आरसी प्रसाद सिंह)

स्वर्ण विहङ्गम जो भविष्य के दर्शनरहित छटपटा रहा है
जो आगामी कल में उड़ने को डैने फटफटा रहा है
वर्त्तमान के पुष्ट गर्भ से बाहर आने को आकुल है
रक्तवर्ण जो भ्रूण अभी है, सुन्दर है अतिशय मञ्जुल है
वह मेरे स्वप्नों का भूतल, वह मेरे मन का भारत है॥

आनेवाला वह युग कैसा होगा, यह मैं क्या बतलाऊँ?
किसी कल्पना के कानन में उसका रेखाचित्र दिखाऊँ?
वह समता का समरस भोगे, वह जग-जीवन अपना होगा
जब हंसमुख हरप्राणी होगा सुख सबका, दुःख सपना होगा
अपने साथ लिये आता है, जो अभिनव संसार महत् है॥

उस युग में होगी मानव को, नूतन छवि, नवीन अभिलाषा
उस युग में गृह-गृह में गेंदा, बनकर रोज खिलेगी आशा
मिट जायेगी भूमण्डल से मानव तन की क्षुधा पिपासा
जीवन की वंशी पर प्रतिदिन गूँजेगी आध्यात्मिक भाषा
उसके चरणों पर मेरा यह पूजन है, चन्दन-अक्षत है॥

सफलता के छः शत्रु

तारा शर्मा
प्रधान - धर्म संवर्द्धिनी सभा (दिल्ली)

प्रायः संसार के सभी मनुष्यों के जीवन में बाल्यावस्था से लेकर मरण-पर्यन्त प्रत्येक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने की इच्छा स्वाभाविकरूप से बनी रहती है, वह क्षेत्र चाहे विद्या, धन, बल, यश का हो वा अन्य किसी प्रकार का। पर सफलता प्राप्त करने के इच्छुक मनुष्य को यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जो-जो सफलता के बाधक शत्रु हैं, उनका प्रभाव अपने ऊपर न होने दे, अन्यथा सफलता कोरी कल्पना बनकर ही रह जायेगी।

हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने मानव-कल्याण के लिए जो चिन्तन उपस्थित किया, उनमें उन सभी बिन्दुओं को दर्शाने का प्रयास किया है, जो हमारी सफलता में बाधक हैं। आईये उन पर थोड़ा-सा विचार कर लें -

(1) निद्रा - निद्रा सामान्यतः नींद को कहते हैं। नींद मनुष्य जीवन की स्वाभाविक प्रक्रिया है। जैसे जीवन के लिये भोजन की आवश्यकता है, उसी प्रकार नींद भी अत्यन्त आवश्यक है। जिस मनुष्य का निद्रातन्त्र अव्यवस्थित हो जाता है, उसके स्वास्थ्य का विकृत होना स्वाभाविक है। इसलिये आयुर्वेदज्ञ विद्वानों का मत है कि - एक स्वस्थ मनुष्य को 6-7 घण्टे अवश्य सोना चाहिये। यह बात पृथक् है कि उम्र के अनुसार इसके घण्टों में कुछ परिवर्तन हो सकता है। जितनी ऊर्जा बालक को अधिक नींद लेने पर बचपन में प्राप्त होती है, उतनी ऊर्जा वृद्ध-मनुष्य कुछ घण्टों की नींद लेकर पूरा कर सकता है। यह निश्चित है कि शरीर, मन, मस्तिष्क की ऊर्जा के लिये नींद लेना परमावश्यक है; पर यही नींद उस समय सफलता की शत्रु बन जाती है, जब मनुष्य 6-7 घण्टे के स्थान पर 15-16 घण्टे सोने में व्यतीत कर देता है। जो समय उसको अपनी सफलता के निमित्त कार्य में लगाना चाहिये, वह समय जब सोने में व्यतीत होगा तो स्वाभाविक है कि वह मनुष्य सफलता के कार्यों को कभी पूरा नहीं कर सकता। न उसमें उत्साह होगा, न कार्य करने की क्षमता होगी और न लक्ष्य प्राप्ति की तीव्र लालसा। इसलिये जो मनुष्य अपने जीवन में सफलता अर्जित करने की इच्छा रखता है, तो उसे अपने दैनिक कार्यों में नींद को उतना ही स्थान देना चाहिये, जो उसकी ऊर्जा प्राप्ति के लिये आवश्यक है। अधिक सोना या कम सोना, इन दोनों को ही दोष तथा सफलता का शत्रु माना गया है।

(2) तन्द्रा - इसका अभिप्राय है - ऊँघना या अर्द्ध निद्रा में बने रहना। अनेकों लोग आपने ऐसे भी देखे होंगे, जो सोने के बाद भी उठने में अनेकों घण्टे व्यर्थ व्यतीत कर देते हैं।

माँ या पत्नी कहती है – उठो, जल्दी तैयार हो जाओ, तुम्हें काम पर जाना है; यह सब सुनने के बाद भी घण्टे-आधा घण्टे आलस्य में पड़े रहना जिन्हें अच्छा लगता है, उन्हें समझ लेना चाहिये कि उन्हें तन्द्रा ने अपने वश में कर रखा है। तन्द्रायुक्त मनुष्य न तो उत्साह से काम करेगा और न उसे लक्ष्य की चिन्ता होगी। वह बार-बार यह चाहेगा कि यदि मैं थोड़ी देर और बिस्तर में पड़ा रहता तो ज़्यादा अच्छा होता।

ऐसी प्रवृत्ति वाला मनुष्य तन्द्रा और अनुत्साह के कारण कभी सफलता को प्राप्त नहीं करता। सफलता की कामना करने वाले मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी अर्द्धनिद्रा को त्यागकर अपने कार्य में उत्साहपूर्वक संलग्न हो जाय, अन्यथा तन्द्रामय जीवन आपको असफल अवश्य बना देगा।

(3) भय – यह शब्द 'डरना' अर्थ में प्रयुक्त होता है। मनुष्य जब अपने को अकेला या असमर्थ स्थिति में महसूस करता है तो उसके मन में भय का भाव उत्पन्न हो जाता है। भय ऐसा भयानक शत्रु है कि वह मनुष्य की शारीरिक क्षमता को ही न्यून नहीं करता, अपितु मनुष्य की बौद्धिक क्षमता को भी प्रभावित करता है। भययुक्त मनुष्य की स्मृति धोखा देने लगती है। जो उसकी स्मृति में छिपा ज्ञान है, उसे भी वह विस्मृत करने लगता है। सफलता प्राप्त करने वाले मनुष्य को चाहिये कि वह विपरीत परिस्थितियों से जूझने-लड़ने का संकल्प पैदा करे। ऐवरेस्ट की चोटी पर वही मनुष्य पहुँच सकता है, जो भयमुक्त हो; अन्यथा भययुक्त भावना उसको कहीं भी विनष्ट कर सकती है। विद्वानों की मान्यता है कि जब कभी इस प्रकार की स्थिति उपस्थित हो, तो उस समय आप परमात्मा का ध्यान कर, उससे शक्ति की याचना करें। जब मनुष्य परमात्मा को अपने समीप समझ, पूर्णरक्षक के रूप में स्वीकार करता है, तो उसमें निर्भयता का संचार हो जाता है। जैसे अबोध बालक, माता-पिता की गोद पाकर भय मुक्त हो जाता है, वैसे ही जब मनुष्य परमात्मा की शरण में बैठने का अभ्यास करने लगेगा, वैसे-वैसे उसका भय शीघ्र विनष्ट हो जायेगा।

(4) क्रोध – मनुष्य का महान् शत्रु 'क्रोध' को माना गया है। क्रोध, बुद्धि-विवेक का नाश करने वाला है। क्रोधी मनुष्य को कोई भी अपना मित्र नहीं बनाना चाहता। क्रोधी मनुष्य के व्यवहार में कर्कशता आ जाती है। उसमें अहङ्कार की निरन्तर वृद्धि होने लगती है। सहयोग और सामञ्जस्य क्रोधी मनुष्य के जीवन से कोसों दूर हो जाते हैं। क्रोध सम्मोह को उत्पन्न करता हुआ मनुष्य की स्मृति को विध्वंस करने का कारण बनता है। स्मृतिहीन मनुष्य पशु के समान है। सफलता प्राप्त करनेवाले मनुष्य को चाहिये कि वह क्रोध को नियन्त्रण में रखे। जब कभी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो रही हो, तो उस काल में क्रोधी मनुष्य को शीतल जल का सेवन कर, उस स्थान से हट जाना चाहिये, जहाँ की परिस्थितियां आपकी क्रोध भावना को भड़काने का कार्य कर रही हों।

जब कभी क्रोध की स्थिति बने, तो मनुष्य को चाहिये कि वह उसकी तुरन्त

प्रतिक्रिया न दे। आप संकल्प कर लें कि जो मनुष्य मुझ पर क्रोध कर रहा है, मैं उसका उत्तर 4 घण्टे बाद दूँगा। जब आप चार घण्टे बाद उसी प्रतिकूलता की प्रतिक्रिया देने की इच्छा करेंगे, तो आपको स्वयं अनुभव होगा कि आप जो कुछ 4 घण्टे पूर्व कहना चाह रहे थे, उसे आप अब नहीं कह सकते। क्रोधी मनुष्य दूसरे को उतनी हानि नहीं पहुँता पाता, जितनी हानि वह स्वयं की कर लेता है। क्रोधी मनुष्य से कोई समझदार व्यक्ति व्यवहार ही नहीं करना चाहता; यहाँ तक कि उससे बात करने से सभी कतराते हैं। इसलिये क्रोध का नियन्त्रण सफलता के सोपानों पर चढ़ने में सहायक होगा; अन्यथा क्रोधी मनुष्य अपने क्रोध से विवेकहीन, व्यवहारहीन बनकर, अपने जीवन को पूर्ण पतितावस्था में पहुँचा देगा।

(5) आलस्य – आलस्य मनुष्य का महान् शत्रु है। आलसी मनुष्य सुख-सुविधाओं को अधिक महत्त्व देता है, कार्य पर नहीं। कार्य को महत्त्व देने वाले मनुष्य के पास सदैव समय का अभाव होता है। कार्य को करने वाले के सामने कार्यों की इतनी बड़ी तालिका होती है कि उसके पास जीवन के अत्यावश्यक कर्म के लिये भी समय कम होता है। कार्यशील मनुष्य उचित अवसर का लाभ उठाकर लक्ष्य के सोपानों पर आगे बढ़ जाता है, जबकि आलसी मनुष्य लक्ष्य के द्वार तक ही पहुँचने में असमर्थ बना रहता है। आलसी मनुष्य की चाहना जब उसके परिजन ही नहीं करना चाहते, तो फिर समाज के अन्य लोग उसकी चाहना क्यों करें ? क्योंकि आलसी मनुष्य सहयोग, सामंजस्य, मेल-मिलाप की भावना से पृथक् होकर आलस्य-पूर्ति को ही अपना ध्येय मानता है। जब ध्येय ही आरामतलवी का बन गया हो, तो ऐसा मनुष्य सफलता कैसे प्राप्त कर सकता है ? राजा भर्तृहरि जी लिखते हैं –

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुर्यं कृत्वा नावसीदति॥

(नीति0 86)

अर्थात् – आलस्य मनुष्य के शरीर में रहने वाला महान् शत्रु है। पुरुषार्थ से अधिक उसका कोई अन्य मित्र नहीं है। क्योंकि परिश्रमी मनुष्य परिश्रम करके कभी दुःख प्राप्त नहीं करता।

इसलिये सफलता की चाहना रखने वाले मनुष्य को चाहिये कि वह अपने जीवन में आलस्य का संहार कर, उत्साहपूर्वक अपने कर्त्तव्य पालन में संलग्न रहे, अन्यथा आलस्य आपके जीवन को व्यर्थ ही नष्ट कर देगा।

(6) दीर्घसूत्रता – इस शब्द का अभिप्राय है – टालमटोल करना। आपने अनेकों ऐसे बालकों को देखा होगा कि यदि आप उससे पानी का एक गिलास भी माँग लें तो वह दीर्घसूत्रता दोष के कारण आपके आदेश को अनसुना-सा करने का ढ़ोंग करने लगेगा; अथवा वह स्वयं पानी न लाकर उस कार्य करने का जिम्मा दूसरों पर डालने का प्रयत्न करेगा। ऐसे लोग किसी की भी प्रियता प्राप्त नहीं करते। जब उनको माता-पिता-गुरुजनों का स्नेह नहीं मिलता तो समाज के लोग उनसे सम्बन्ध क्यों बनायें ? गुरु भी उस बालक को ज्ञान देता है, जो

बालक आज्ञा मानने वाला हो, कार्य की परिणिति शीघ्र करने वाला हो। जिसने अपना उद्देश्य बना लिया –

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
पल में परले होइगी, बहुरि करेगो कब॥

टालमटोल की वृत्ति वाले मनुष्य के कार्यों में कभी आपको पूर्णता दिखायी न देगी। अभी यह कार्य थोड़ी देर में कर लेंगे, कल कर लेंगे, अभी इतनी क्या जल्दी है, ऐसा कह-कहकर न तो वे समय पर कार्य करते हैं और न सफलता उनका लक्ष्य बन पाती है। ऐसे मनुष्य भाग्य के भरोसे रहकर अपने जीवन को काटने का प्रयत्न करते हैं। वह तो मात्र यही सोचकर रह जाते हैं –

आज करे सो कल कर, कल करे सो परसों।
इतनी जल्दी क्या पड़ी है, जीना है तो बरसों॥

वे सन्त कबीर की वाणी के विपरीत बात कहकर यह प्रकट करना चाहते हैं कि जब बहुत वर्षों के लिये परमात्मा ने जीवन दिया है तो काम भी आराम से कर लेंगे। इस प्रकार कुनीति का आचरण करनेवाले कभी सफलतारूपी लक्ष्य का स्पर्श तक नहीं करते।

इसलिये सफलता की कामना करने वाले मनुष्यों को चाहिये कि अपने जीवन में से सर्वप्रथम छः दोषों को दूर करें। फिर लक्ष्य को निर्धारित कर समय का सदुपयोग करें, जिन-जिन कर्त्तव्यों का पालन करना हो, उसमें संलग्न हो जायें; तब कहीं सफलता तुम्हारा स्पर्श कर सकती है, अन्यथा असफलता आपके जीवन से कभी पृथक् न हो सकेगी। ❑

स्वास्थ्य नियमावली

(हरिप्रसाद 'शुभैषी')

उठकर ब्राह्ममुहूर्त्त में, धरिये प्रभु का ध्यान।
होगी सुखप्रद स्वास्थ्य में, इससे वृद्धि महान्॥

जल पीकर के शौच जा, टहल मील दो तीन।
निश्चय होगी आपकी, कई व्याधियाँ क्षीण॥

करिये सेवन वायु का, प्रातः खुले शरीर।
मेटेगा आलस्य को, निश्चय शुद्ध समीर॥

डाली कीकर नीम की, या पीलू का मूल।
सुदृढ़, स्वच्छ सब दांत हों, नहीं रहेगा शूल॥

ताजे निर्मल नीर से, कर घर्षण स्नान।
सन्ध्या प्राणायाम करें, यज्ञ करें मतिमान॥

भक्ष्याभक्ष्य पदार्थ पर, करिये पूर्ण विचार।
कम खाओ, चाबो अधिक, होय न उदर विकार॥

फिर भी उदर विकार का, पाओ यदि आभास।
उष्णोदक सेवन करो, अष्ट प्रहर उपवास॥

वेग रोकने से कभी, मत करना तुम भूल।
घर कर लेगी देह में, विविध रोग को मूल॥

सुखप्रद सुन्दर स्वास्थ्य हित, हंसना है अनिवार्य।
शुद्धि, वृद्धि हो रक्त की, अरु संचालन कार्य॥

थक जाओ जब तुम कभी, करते करते काम।
तो अवश्य ही उस समय, यथायोग्य विश्राम॥

नित्य सात घण्टे शयन, कीजे आप अवश्य।
न्यूनाधिक सोना बुरा, करता है आलस्य॥

नित आसन अभ्यास कर, आप पालिये नेम।
मानव उन्नति मूल है, सदाचार व्रत क्षेम॥

जो धारे इस नियम को, सदा रहेगा स्वस्थ।
निश्चित होगा धर्म-अर्थ, काम-मोक्ष का व्रत॥

वेद में मानवता का सन्देश

रामनिवास शर्मा
(राजस्थान)

भारत में कभी मानवतापूर्ण साम्राज्य था। यहाँ कभी सर्वतोभद्र, निष्पाप और उदात्त चित्त के मनुष्य बसते थे। यहीं से विश्व में मानवता का प्रचार-प्रसार भी हुआ था। यही कारण है कि देवता भी भारत के गुण गाते थे और भारतभूमि में जन्म लेने की इच्छा रखते थे। इसीलिये तो भारत की अपनी समुद्घोषणा थी –

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

इतना क्यों और कैसे हुआ ? इसका सदुत्तर यही है कि भारत पूर्ण प्रकृति का देश है, कर्म-प्रधान भूमि है। यहाँ मानव-दोषहर, गुणाधान-कारक और हीनाङ्गपूर्ति-विधायक संस्कारों का दौर-दौरा है एवं वर्णाश्रमधर्म भारत की बपौती है। विशेषतः इसी भारतभूमि को सृष्टि की आदि में नीति-प्राण मानवधर्म की रूपरेखा ईश्वरीय ज्ञान वेदों द्वारा प्राप्त हुई है। इसका संक्षिप्त-सा उल्लेख इस प्रकार है –

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि मेरे सब मित्र हों; परन्तु यह कोई नहीं चाहता कि मैं सबका मित्र बनूँ। वेद में इन्हीं दोनों का समन्वय सामञ्जस्य इस प्रकार किया गया है –

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥
(अथर्व0 19/62/1)

'परमात्मन् ! ऐसी कृपा कर कि मैं ब्राह्मणों का प्रिय बनूँ, क्षत्रियों का प्रिय बनूँ, वैश्यों का प्रिय बनूँ तथा शूद्रों का प्रिय बनूँ। इसी प्रकार मैं ब्राह्मणों को प्यार करूँ, क्षत्रियों को प्यार करूँ, वैश्यों को प्यार करूँ एवं शूद्रों को भी प्यार करूँ। उपलक्षण से सभी को प्यार करूँ।'

मन में पापों से बचने की कैसी साधना है और उनसे दूर भागने के लिये कैसी ईश्वर-प्रार्थना है –

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि। परेहि न त्वा कामये वृक्षान् वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥ (अथर्व0 6/45/1)

'हे मेरे मन के पापसमूह ! तुम मुझसे दूर भाग जाओ। मुझसे बुरी बातें मत करो; मैं तुमको चाहता ही नहीं, तब फिर मुझसे दूर क्यों नहीं होते ? अरे ! तुम वन में क्यों नहीं चले जाते ? वृक्षों में ही वहाँ रहो। अरे ! किसी तरह तो मेरा पीछा छोड़ो; क्योंकि मैं शरीर-इन्द्रिय और चित्त की साधना में संलग्न रहना चाहता हूँ।'

निष्पाप और आनन्दित होकर मानव बनने की कैसी उत्कट कामना है –

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे। प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः॥
(अथर्व0 19/51/1)

'हे परमेश्वर ! मैं अनिन्द्य बनूँ, मेरा आत्मा अनिन्द्य बने और मेरे चक्षु, श्रोत्र, प्राण, अपान तथा ध्यान भी अनिन्दित हों।'

अगले वेदमन्त्र में व्यष्टि-समष्टिमूलक, सार्वभौम और सार्वजनीन मानवोचित सप्त मर्यादाओं का कैसा सुन्दर नामकरण, वर्गीकरण और मानव-साध्य आदर्श पाठ प्रदान किया है -

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकाभिदभ्यंहुरो गात्। आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥

(ऋ0 10/5/6)

हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्यपान, जुआ, असत्य-भाषण तथा पाप-सहायक दुष्टकर्म - इन्हीं का नाम सप्त मर्यादा है। इनमें से प्रत्येक मानव जीवन घातक है। यदि कोई एक के भी फन्दे में भी पड़ जाता है तो उसका जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है; किन्तु जो इनसे बचकर निकल जाता है, निस्सन्देह वह आदर्श मानव बनकर रहता है।

मनुष्य को प्रबलतम पापों से बच सकने का कैसा मधुर, साहित्यिक उपदेश-निर्देश है -

उलूकयातुं शशुलूकयातुं जहि श्वयातमुत कोकयातुम्। सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥

(अथर्व0 8/4/22)

'हे मनुष्य ! तू साहसी बनकर गरुड़ के समान मद (घमण्ड), गीध के समान लोभ, कोक (चकवे) के समान काम, श्वान के समान मत्सर, उलूक के समान मोह और भेड़िये के समान क्रोध को समझकर मार भगा।'

रात-दिन घेरे रहने वाले षड्-रिपु को मारकर भगाने का कितना अच्छा आलङ्कारिक हृदय-स्पर्शी उपदेश है।

इन्हीं वेदोक्त उपदेशों का पुण्य-प्रताप था कि कभी मानव निर्माण की दिशा में भारत विश्व गुरु था। इसी का यह परिणाम है कि आज भी संसार किसी न किसी रूप में भारतीय सभ्यता से आवृत्त है -

भारतस्य ऋग्वेदकालीना संस्कृतिः अद्यापि सभ्यानामस्माकं वातावरस्यवस्तु। वयमद्यत्वेऽपि तथा चतुर्दिक्षु समावृताः॥

(M.Mon.Doibos.)

यह भी निर्विवाद बात है कि अनेक क्षेत्रों में भारत की मानवता और भारत के नैतिकस्तर दूसरे देशों से आज भी उच्च हैं। यह भारत ही है, जहाँ आज भी ब्राह्मण षडङ्गसहित वेदों का अभ्यास निष्कारण ही करते हैं।

यह भी सत्य है कि वेदों ने मानव-कर्त्तव्य का पाठ पढ़ाकर विश्व को आर्य (श्रेष्ठ) बनाना चाहा था। उस समय आर्य शब्द कर्त्तव्य-वाचक था अथवा दोनों एक-दूसरे के पर्यायवाची शब्द थे -

कर्त्तव्यमाचरन् कार्यमकर्त्तव्यमनाचरन्। तिष्ठति प्रकृताचारे स वा आर्य इति स्मृतः॥

(वसिष्ठ स्मृति)

ईश्वर भारत को बल दे कि वह उल्लिखित शास्त्रीय दृष्टि से फिर से सम्पूर्ण विश्व को **आर्य** (श्रेष्ठ) बनाकर अपने **गुरुपद** को स्पष्ट करे, जिससे मृतप्राय मानवता फिर से परिपुष्ट हो सके।

प्रसन्नता जीवन के लिये आवश्यक

आचार्य गोपाल
नई दिल्ली

प्रसन्नता मन को उन्नत तथा सुव्यवस्थित करने के लिये एक अचूक औषध है। जिस बच्चे के मुख पर चिन्ता, शोक तथा दुःख के चिह्न देखो, तब समझ लो कि उसकी आन्तरिक अवस्था में कोई त्रुटि उत्पन्न हो गई है। गम्भीर तथा उदास चेहरा ईश्वरीय-नियम के प्रतिकूल है। डा0 आलिवर विण्डल से पूछा गया कि - 'क्या कारण है कि वह 80 वर्ष तक का होकर भी गुलाब के फूल की तरह खिला हुआ दिखलायी देता है ?' उसने उत्तर दिया कि - 'इसका रहस्य है और वह यह कि वह हमेशा हंसता-खेलता और कूदता रहा है।' जो व्यक्ति हर समय मुस्कराता रहता है, उसे बुढ़ापा कभी नहीं आता। बुढ़ापा आयु के अधिक होने का नाम नहीं है, परन्तु परम्परागत विचार प्रवाह के कमजोर हो जाने का नाम है। जो स्त्री तथा लड़की चिड़चिड़े स्वभाव की होती है, उसका सौन्दर्य तथा माधुर्यता शीघ्र नष्ट हो जाती है। उसके मुख पर गहरी रेखाएँ दिखलायी देती हैं, आँखें बीच में घुसी हुई प्रतीत होती हैं। जैसा विचार होगा, तदनुसार शरीर की आकृति में परिवर्तन होगा। जो पुरुष प्रेम, दया और करुणा कर मूर्ति है, उसके शरीर पर भी यह सब गुण अङ्कित हो जाते हैं। क्रोधी पुरुष का चमड़ा, ईर्ष्या तथा द्वेष रखने वाले पुरुष की आँखें और पेशियाँ सदा प्रसन्न रहने वाले पुरुष की पेशियों और आँखों से सर्वथा भिन्न होंगी। सदा प्रसन्न रहने वाले लोग केवल आनन्द का ही जीवन व्यतीत नहीं करते, प्रत्युत् उनकी आयु भी लम्बी होती है, और वे संसार में अत्यन्त सफल तथा लाभदायक साबित हुए हैं। सर्वदा प्रसन्न रहना, प्रत्येक कार्य में सरलता अनुभव करना, अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों में उचित उपहास हंसी-मज़ाक करना, यह सब मानसिक मालिश है। जिस प्रकार तेल लगाने से शरीर सुव्यवस्थित होता है, इसी प्रकार मन को सुव्यवस्थित करने के लिये प्रसन्नता एक अत्यन्त उपयोगी मालिश है। भगवान् श्रीकृष्णजी ने गीता में जहाँ शारीरिक तप में ब्रह्मचर्य को स्थान दिया है, वहाँ मानसिक तप में प्रसन्नता तथा सौम्यभाव को आवश्यक समझा है। **'मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः'** जिस प्रकार बच्चों को गणित तथा भिन्न-भिन्न भाषाओं का ज्ञान दिया जाता है, उसी प्रकार उन्हें प्रसन्न रहने की विद्या भी सिखानी चाहिये। स्वस्थ स्वभाव सर्वदा हंसने वाले होते हैं। प्यादर टेलर ने जब अपनी विदाई के समय अपने मित्र को **Bastol** अन्तिम नमस्ते कही, तब निम्न प्रवचन दिया - **"Langh until I come back"** हंसते रहो, जब तक मैं लौट नहीं आता। वे लोग जो हंसी उपहास को एक मानसिक त्रुटि समझते हैं, वह वस्तुतः

मूर्खों के स्वर्ग में निवास करते हैं। उन्हें संसार दुःखमय तथा विपदाओं से भरा हुआ प्रतीत होता है। वे संसार की जिम्मेदारी उठाने में अपने-आप को अशक्त पाते हैं। वे इस संसार में इस प्रकार घूम रहे हैं, मानो सारे संसार का बोझ उनके ही कन्धों पर डाल दिया गया है।

यदि कोई व्यक्ति अधिक दुःखदायक है तो वह वही व्यक्ति है, जिसने कभी दिल खोलकर कहकहा नहीं लगाया और जिसको देखकर किसी को प्रसन्नता नहीं होती। मन चाहे छोटा और संकुचित भले ही हो, परन्तु वह रन्जीदा और शोक तथा उदासी से पूरित न हो।

Life is a mirror, if we smile
Smiles come back to greet us.

यह जीवन एक दर्पण है, यदि हम सबसे प्रसन्नतापूर्वक व्यवहार करते हैं, निस्सन्देह दूसरे भी प्रसन्नता के व्यवहार से हमारा स्वागत करेंगे।

एक दैनिक पत्र के सम्पादक से पूछा गया कि वह क्यूँ पचास वर्ष से ऊपर के व्यक्तियों को अपने विभाग में रखने से संकोच करता है ? उसने उत्तर दिया - मैं यह नहीं समझता कि वे काम नहीं कर सकते, प्रत्युत मैं इस कारण उन्हें नहीं रखता, क्योंकि वह छोटे-छोटे मामलों में भी बहुत गम्भीरता दिखलाते हैं।

किसी ज़माने में जर्मनी में नियम था कि जो व्यक्ति अधिक हंसने-हंसाने वाला होता था, उसे दण्ड दिया जाता था; क्योंकि अधिकारी-वर्ग यह समझते थे कि ऐसा होने से नवयुवक युद्ध करना भूल जाते हैं। यही अवस्था आज भारतवर्ष की है। साधारण से साधारण घटना को भी इतना महत्त्व दिया जाता है कि कई लोग उन्हीं में से अपने जीवन को नष्ट कर देते हैं। यदि बच्चे की शिक्षा के समय इस हंसने की कला पर अधिक बल दिया जावे, तब हमारी सम्मति में हमारी संस्कृति-साहित्य में विशेष कान्ति पैदा हो जाय।

यह कितनी विचित्र स्थिति है कि यदि बच्चे कहीं पर खेल-कूद कर रहे हों, या थोड़ी-सी चञ्चलता दिखलाते हों, तब अध्यापक लोग उन्हें डण्डों से सीधा करते हैं और उन्हें अपनी तरह ही गम्भीर और उदास रखने का प्रयत्न करते हैं। इसे आधुनिक समय में **'नियन्त्रण'** कहा जाता है।

एक बार ईसा उपदेश दे रहे थे और लड़के शोर कर रहे थे। तब जनता के कुछ व्यक्तियों ने उन्हें पण्डाल से बाहर निकाल दिया। तब ईसा ने उन भाईयों से कहा कि - 'तुमने अच्छा नहीं किया।' और कहा - 'इन बच्चों को मेरे पास आने दो, क्योंकि ख़ुदा की बादशाहत इनकी ही है।'

सचमुच ईश्वरीय नियम यही है कि जो सरलता, पवित्रता को तथा कोमलता प्रसन्नता को अपने साथ लिये हुए हैं। जिस प्रकार मनुष्य अपने निर्वाह के लिये प्रयत्न करता है और रात-दिन उसी में ही मस्त रहता है, इसी प्रकार प्रसन्न रहने की कला में भी संलग्नता होनी चाहिये; प्रसन्नता में ही मस्ती रहे।

भारतवर्ष के कारीगरों तथा व्यापारियों को देखो, वह किस प्रकार अपने कार्य में लगे हुए हैं। उनकी आकृतियाँ गम्भीर तथा

चिन्तायुक्त हैं। होटलों में भोजन कर रहे यात्री भी गम्भीर दिखलाई देते हैं। इसका कारण मुख्यतया यही है कि प्रसन्नता को हम लोगों ने अपना ध्येय नहीं बनाया। परिणाम स्वास्थ्य का कमजोर होना, आयु का अल्प होना और नाना प्रकार की बीमारियों का शिकार होना है।

डा0 जॉनसन का कथन है कि – 'प्रत्येक व्यक्ति को कुछ समय अपने कारोबार में से इसीलिये निकालना चाहिये कि वह उन लोगों के साथ मिलें, जो सर्वदा प्रसन्न रहते है; और जो हर समय हंसते-खेलते और कूदते रहते हैं।' अपने जीवन को स्वच्छ और शुद्ध शीशे में देखने का अभ्यास करो। मैले-कुचैले और धुएं से भरे हुए शीशे में देखते हुए ज़िन्दगी भी उसी प्रकार प्रतीत होगी, जिस प्रकार शीशा है।

एक बार कुछ महानुभाव इस विषय पर विवाद कर रहे थे कि – 'सबसे उत्तम मृत्यु किस प्रकार हो सकती है ?' उनमें से एक महानुभाव ने कहा – 'मैं उसी मृत्यु को सर्वोत्तम समझता हूँ जिसमें मैं हंसता हुआ और मज़ाक करता हुआ मरूँ।' अन्य महानुभाव इस उत्तर से बहुत प्रभावित हुए और शरमिन्दा हुए।

Smile once in a while. It will make your heart seem Lighter.

'एक बार की मुस्कराहट भी हृदय को हलका करने में विशेष रूप से समर्थ है।' प्रसन्नता की तुलना सूर्य की रोशनी से दी गयी है। जिस प्रकार शीतल धूप सुहावनी प्रतीत होती है, उसी प्रकार प्रसन्नता से आच्छादित मनुष्य भी सुहावना प्रतीत होता है। ❐

पुनर्निमाण करना है

(प्रेमभिक्षु)

निज हृदय स्नेह कण-कण, मातृ चरणों पर चढ़ाकर।
राष्ट्र-मन्दिर का पुनर्निमाण करना है हमें तो॥

काट कण-कण देह जिसकी, दुर्ग का निर्माण होता।
एक तिल हटने न पाता, भूमि में ही प्राण खोता।
जय-पराजय, कीर्ति-यश की, छोड़ करके कामनायें।
रात-दिन, निश्चय अटल, चुपचाप गढ़ का भार ढोता।
शोक में रोता नहीं है, हर्ष में हंसता नहीं जो।
राष्ट्र की दृढ़ नींव का, पाषाण बनना है हमें तो।
राष्ट्र मन्दिर का पुनर्निमाण .... ॥1॥

सह उपेक्षा शून्य-पथ पर, ज्योति का आभास लेकर।
फूँक तिल-तिल देह युग-युग, का अमर इतिहास लेकर।
कर रहा निर्देश पन्थी, दूर मंजिल भी अभी भी।
फिर पथिक बढ़ता अमित, बल और दृढ़ विश्वास लेकर।
उस दयानन्द-दीप का, आलोक रग-रग में रमाकर।
शून्य निर्जन ध्येय पथ, द्युतिमान करना है हमें तो।
राष्ट्र मन्दिर का पुनर्निमाण .... ॥2॥

मिट गई जो किन्तु क्षण, विश्राम भी लेने न पायी।
जो प्रलय के रोष को भी, पार करके मुस्करायी।
चीरती ही जो रही, अविराम बाधा उदधि उर को।
नाव को तिल-तिल प्रगति दे, अन्त में चिरमुक्ति पायी।
किन्तु अपनी देह को भी, कह न पायी देह अपनी।
राष्ट्र नौका की वही, पतवार बनना है हमें तो॥
राष्ट्र मन्दिर का पुनर्निमाण .... ॥3॥

* मनु उवाच *

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं, तपः क्षत्रस्य रक्षणम्।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता, तपः शूद्रस्य सेवनम्॥

(मनु0 11/234)

अर्थात् – ब्राह्मण का तप 'ज्ञान' है, क्षत्रिय का तप 'रक्षण' है, वैश्य का तप 'व्यापार है और शूद्र का तप 'सेवा' है।

शिक्षा की सार्थकता

आचार्य मुरारीलाल
(हरिगढ़)

गणतन्त्रकाल से शिक्षा और साक्षरता में जो वृद्धि हुई है, वह अभूतपूर्व है। लोग जनसंख्या के विस्फोट की भांति 'शिक्षा के विस्फोट' की भी चर्चा करते हैं। यदि यह विस्फोट जनतन्त्र को आत्मासात करने में सहायक है तो इसका स्वागत है; किन्तु यदि यह संख्या वृद्धि उद्देश्यहीन है तो इसके भयङ्कर परिणाम होने जा रहे हैं और समय रहते हमें सचेत हो जाना चाहिये। एक ओर तो यह देखने में आ रहा है कि उन अंचलों से जहां ज्ञान की किरण भी नहीं पहुंची थी, स्कूल खोलने की मांग की जा रही है, तो दूसरी ओर शिक्षित बेकारों की एक विशाल वाहिनी खड़ी दिखाई देती है। शिक्षा सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों का महानतम कारक है, किन्तु यदि शिक्षा केवल नौकरी पाने के लिए प्राप्त की जा रही है, तो विकास के हमारे वर्त्तमान स्तर पर हमें बेकारी और निराशा ही हाथ लगेगी। कौन-सा पाप है जिसे बुभुक्षित (भूखा) नहीं कर सकता ? कौन-सा कुकर्म है जिसे कुशिक्षित नहीं कर सकता ? अलीगढ़-मथुरा के अंचल में सोरन और महाराज सिंह के गिरोह ने जो दुष्कर्म किये थे, उन्हें जानकर शैतान भी काँप उठता था। इस गिरोह में एक ओर शिक्षित नौजवान थे, तो दूसरी ओर इसके सूत्रधार प्रोफेसर और वकील। इस स्थान पर साक्षर और राक्षस का अन्तर मिट गया था और हमारे सामने वह विभीषिका मुंह बायें खड़ी थी, जो चरित्रहीन शिक्षा का अवश्यम्भावी परिणाम होती है। नक्सलवादी प्रवृत्ति बड़े पैमाने पर इसी अनर्थकारी शिक्षा द्वारा उत्पन्न निराशा का प्रतिहिंसक स्वरूप है। यदि वे विश्वविद्यालयों और शिक्षा संस्थाओं पर बम फैंकते हैं और पुस्तकालयों में आग लगाते हैं, तो आश्चर्य की नहीं, चिन्ता की बात है। हमें शिक्षा को नयी दिशा देनी चाहिये, जिसके केन्द्र-बिन्दु **आजीविका** और **शील** (चरित्र) हों।

वर्त्तमान शिक्षा कोरा मानसिक व्यायाम है। शील या चरित्र को उससे अलग-अलग कर दिया गया है। इसी से शिक्षित व्यक्ति चरित्रवान् भी हो, यह आवश्यक नहीं रह गया। परिणाम हम देख रहे हैं; जितना भी भ्रष्टाचार षडयन्त्र, स्वार्थ और विध्वंस हम देखते हैं, उसमें शिक्षित कहे जाने वाले लोग भी पूरी तरह डूबे हुए हैं। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। कहते हैं कि आचार्य विनोवाभावे ने अपने प्रमाणपत्र अग्नि में होम कर दिये, यह सोचकर कि चरित्र के अभाव में कोरी उपाधियां निरर्थक हैं। मनुष्य को प्रमाणपत्रधारी न बनकर प्रामाणिक बनना चाहिये। शिक्षित का लक्षण है कि उसकी बात का विश्वास हो। कथनी और करनी में अन्तर नहीं होना चाहिये। सरदार पटेल की गर्जना से

देश-विदेश थर्रा जाते थे, क्योंकि उसके पीछे चरित्रबल था। यही बात हमें उस समय देखने को मिलती है, जब मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी यह कहते थे कि **'निश्चरहीन करो महि, भुज उठाय प्रण लीन।'** उनके शील को देखकर उनकी बात का विश्वास होता था। जनता का मनोबल ऊँचा होता था। आज भाषण देने वालों की कमी नहीं है, किन्तु उनकी बात का विश्वास कितनों को होता है ? जनता का मनोबल तो इससे क्षीण ही होता है, यह हर कोई जानता है। जब शिक्षितों के रहते हुए जनता का मनोबल क्षीण हो जाये, तो उस शिक्षा का क्या लाभ ? इसी से शिक्षा और शील का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होना चाहिये। संस्थायें शिक्षा तो दें, पर शील का निर्माण न करें तो वे शिक्षित-दैत्य ही उत्पन्न करेंगी।

शिक्षा का दूसरा पक्ष आजीविका से सम्बन्धित है। भारतीय साहित्य में **'अर्थकरी च विद्या'** का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज शिक्षा का उद्देश्य एकमात्र आजीविका रह गया है। इसमें कोई हानि भी नहीं है, क्योंकि अर्थ ही जगत् का मूल है। मर्यादापूर्वक अर्थोपार्जन के योग्य बनाने वाले ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता है। दुर्भाग्य यह है कि आज **शिक्षालय** उपाधि देने वाले **परीक्षालय** बन गये हैं। बिना डिग्री के नौकरी नहीं मिलती, इसलिये सुगम से सुगम पगदण्डी इसके लिये खोजी जाती है। नौकरी के लिये पढ़ने वाले छात्र सुगमता से परीक्षा पास करने के लिये ऐसे विषय चुन देने हैं, जो नौकरी के लिये तो क्या, जीवन के लिये भी उपयोगी सिद्ध नहीं होते; और इस प्रकार एक बेकार सेना खड़ी कर देते हैं। वे न केवल बेकार **(Unemployed)** होते हैं, काम के लायक ही नहीं **(Unemployable)** रह जाते हैं। शिक्षा संस्थायें उन्हें काम लायक बनाने के जो भी सीमित साधन प्रस्तुत करती हैं, उनके लाभ से भी वे वञ्चित रह जाते हैं।

इसलिये आवश्यकता इस बात ही है कि शिक्षा संस्थायें नवयुवकों को आजीविका के योग्य ही न बनायें, अपितु उन्हें शीलवान्-चरित्रवान् भी बनने का उद्योग करें, तभी शिक्षा की पूर्ण सार्थकता सिद्ध हो सकेगी। ❑

उस रोगी को कौन बचाये ?

(वेदप्रिय शास्त्री)

दुराचार उपदेश बने, व्यभिचार मुक्ति का द्वार हुआ।
कविता बनी चरित्रहीनता, योगी सब संसार हुआ॥
जीव अधिकतर ब्रह्म हुए, कामी कुत्ते भगवान् बने।
अश्लीलता संस्कृति बन गई, मूर्ख-धूर्त्त विद्वान् बने॥
घोर अविद्या के पुतले, शङ्कराचार्य कहलाते हैं।
राग-द्वेष से पूर्ण स्वयं जो, वीतराग कहलाते हैं॥
यम और नियम उदास खड़े हैं, योगासन अब खेल हो गये।
महर्षियों की नई शोध में, आज पतञ्जलि फेल हो गये॥
स्वास्थ्य शिथिल है संयम जी का, वेदशास्त्र सब रोते हैं।
स्वयं पुण्य जी पापकुण्ड में, पड़े खा रहे गोते हैं॥
बाजीगर सद्गुरु कहलाते, बगुले बन गये ब्रह्मज्ञानी।
पाखण्डी पण्डित बन बैठे, धर्म बन गया है मनमानी॥
श्वानवृत्ति ही राजनीति है, और भेड़िया नेता हैं।
बन्दर वितरक बन बैठे हैं, तस्कर धर्म प्रणेता हैं॥
प्रगतिशीलता यहाँ उड़ाती, पुरखों की खिल्ली देखो।
अरे दूध की रखवाली में, बैठी है बिल्ली देखो॥
आज विश्व का गुरु यह भारत, दीन-हीन हो रोता है।
चोर यहाँ कोतवाल को डांटे, अजब तमाशा होता है॥
सत्य झूठ के द्वार खड़ा, गिड़गिड़ा रहा है कर जोड़े।
वेदप्रिय जिसको समझाये, वह ही उससे मुख मोड़े॥
नहीं समझ में कुछ आता, किस तरह बचायें हम इसको।
उस रोगी को कौन बचाये, दवा समझता जो विष को॥

भारतीय वाङ्मय में ज्योतिष का महत्त्व

आचार्य सुधाकर
(दिल्ली)

सम्पूर्ण विश्व में ज्ञान-कला-कौशल की समृद्धि से युक्त जितना साहित्य भारतवर्ष में है, उतना विश्व के किसी भी देश में नहीं है। भारतीय वाङ्मय में आज भी अनेकानेक ऐसे-ऐसे अद्भुत ग्रन्थ विद्यमान हैं, जिन पर पाश्चात्त्य विद्वानों की अभी तक दृष्टि नहीं गई है। जितनी भी दृष्टि उनकी आज तक गई है, वे उन ग्रन्थों को देखकर अवाक् हैं, इसलिये वर्त्तमान में अमेरिका की अन्तरिक्ष ऐजेंसी **'नासा'** भारत की 67000 पाण्डुलिपियों पर शोध का कार्य कर रही है। हमारे पास इतना विशाल समृद्ध साहित्य तब हैं, जबकि आक्रान्ता मुग़लों ने **नालन्दा** और **तक्षशिला** जैसे विश्वविद्यालयों के विशाल पुस्तकालयों को अग्नि की भेंट चढ़ा दिया। यदि वह साहित्य भी आज हमारे पास होता तो उसका अवलोकन करने में अन्य देशों के विद्वानों की कई पीढ़ियां खप जातीं।

आदिकाल से भारतीय वाङ्मय का शुभारम्भ **'वेद'** से होता है। यह निर्विवाद सत्य है कि वेद से प्राचीन ग्रन्थ विश्व में अन्य कोई नहीं। सृष्टि की आदि में सृष्टि का विधिवत् संचालन करने के लिए परमात्मा ने **अग्नि-वायु-आदित्य-अङ्गिरा** नामक चार ऋषियों के हृदय में जो ज्ञान प्रकट किया, वह ज्ञान **ऋक्-यजु-साम** व **अथर्व** नामक चार वेदों के रूप में प्रकट हुआ। वेदों का अनुशीलन करने के लिए भारतीय मनीषी ऋषि-मुनियों ने छः वेदाङ्गों का सृजन किया, उनके नाम हैं - **शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द** और **ज्योतिष।** ध्वनि, वर्णों का सम्यक् उच्चारण करने के लिए **'शिक्षा'** वेदाङ्ग का, याज्ञिक प्रक्रिया का समुचित अनुष्ठान करने के लिए **'कल्प'** वेदाङ्ग का, शब्दों का यथार्थ परिज्ञान करने के लिए **'व्याकरण'** वेदाङ्ग का, शब्दों के अर्थों का सम्यक् निर्वचन करने के लिए **'निरुक्त'** वेदाङ्ग का, वेदमन्त्रों की सीमा के लालित्य के आच्छादन के लिए **'छन्द'** का और याज्ञिक प्रक्रियाओं व विभिन्न कार्यों के काल का निर्णय करने के लिए **'ज्योतिष'** वेदाङ्ग का निर्माण किया। आज इन वेदाङ्गों के समस्त साहित्य में कुछ तो उपलब्ध हैं और कुछ अनुपलब्ध। पर यहाँ हम मात्र ज्योतिष रूपी वेदाङ्ग की महत्ता का वर्णन इसलिये करना चाहते हैं कि ज्योतिष को पाखण्ड का, ठगने का वा अर्थोपार्जन करने कुछ लोगों द्वारा साधन मानकर, इसके स्वरूप को विकृत कर दिया है। कुछ लोगों का विचार यह है कि ज्योतिष भाग्यफल का कथन करनेवाला ग्रन्थ है। यदि ऐसा होता तो महाभारत में फिर ऐसा वर्णन क्यों आता, जिसमें स्पष्ट कहा है -

नक्षत्राणि ग्रहाश्चैव शुभाशुभनिवेदकाः।
मानवानां महाभागे न तु कर्मकराः स्वयम् ॥

(महाभारत, अनुशासनपर्व)

अर्थात् - नक्षत्र-ग्रह, शुभ-अशुभ के मात्र निवेदक हैं, जबकि कर्त्ता द्वारा किया गया स्वकर्म ही कर्मफल का कारक होता है।

अतः ज्योतिष को मात्र भाग्यफल का ग्रन्थ न मानकर उस ग्रन्थ की महत्ता और उपादेयता का परिज्ञान करें तो प्रतीत होगा कि ज्योतिष के बिना हमारे जीवन का कालचक्र चल ही नहीं सकता। ज्योतिष वेदाङ्ग के सम्बन्ध में महर्षि पाणिनि ने जिस रूपक की संरचना की है वह अवश्य ही विचारणीय है। उन्होंने अपने शिक्षाग्रन्थ में समस्त वेदाङ्गों का पृथक्-पृथक् रूप में निम्न प्रकार से वर्णन किया है -

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥

(पाणिनीय शिक्षा 41, 42)

अर्थात् - वेद रूपी शरीर के पैर छन्द हैं, दोनों हाथ कल्प हैं, आँखें ज्योतिष हैं, कान निरुक्त हैं, नासिका शिक्षा है, और मुख व्याकरण है। जो मनुष्य सम्पूर्ण वेदाङ्गों का अध्ययन कर, वेदों का अध्ययन करता है, वह मनुष्य **ब्रह्मलोक** को प्राप्त करता है।

इसी प्रकार ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सिद्धान्त शिरोमणि' में भी कहा है -

वेदचक्षुः किलेदं स्मृतं ज्यौतिषं
मुख्यता चाङ्गमध्येऽस्य तेनोच्यते।
संयुतोऽपीतरैः कर्णनासादिभिः
चक्षुषाङ्गेन हीनो न किञ्चित्करः ॥

(सि0 मध्यमा0 11)

विद्वानों ने इस ज्योतिष को वेद की आँख कहकर, वेदाङ्गों की महत्ता का बखान किया है। जैसे कान, नासिका, आदि शरीर में होने पर भी बिना आँख के मनुष्य समस्त कार्य करने में समर्थ नहीं हो पाता, वैसे ही बिना ज्योतिष के मनुष्य वेदविद्या का सम्यक् उपयोग नहीं कर पाता।

इन प्रमाणों से यह तो सिद्ध है कि ज्योतिष वेदाङ्गों की शृंखला में विशिष्ट स्थान रखता है। ये बात पृथक् है कि आप उसके ज्ञान का उपयोग किस प्रकार से करते हैं। किसी भी वस्तु की उपयोगिता-अनुपयोगिता मनुष्य की बुद्धि पर निर्भर करती है; इसलिये हम ज्योतिष के स्वरूप को खुली दृष्टि से देखें और उसका समुचित लाभ प्राप्त करें।

भारतीय ज्योतिष में प्राचीन ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। जो भी वर्त्तमान में प्राप्य हैं, उन समस्त ग्रन्थों के आधार पर ज्योतिषविदों ने ज्योतिष को तीन भागों में बांटा है। जिस प्रकार उपनिषदों ने धर्म के तीन भागों को **स्कन्ध** नाम दिया है, उसी प्रकार ज्योतिष के भागों को भी **स्कन्ध** नाम दिया है। **'नारद संहिता'** नामक ग्रन्थ में लिखा है -

सिद्धान्तसंहिताहोरारूपं स्कन्धत्रयात्मकम्।
वेदस्य निर्मलं चक्षुर्ज्योतिः शास्त्रमनुत्तमम् ॥

(नारद संहिता 1/4)

अर्थात् - वेद का निर्मल चक्षु ज्योतिष से उत्तम कोई शास्त्र नहीं। इसके तीन स्कन्ध हैं -

सिद्धान्त , संहिता , और **होरा।** आईये इन तीनों स्कन्धों का एक संक्षिप्त परिचय हम प्राप्त कर लें –

(1) सिद्धान्त स्कन्ध – इस स्कन्ध में अंक गणित, बीजगणित की विद्याओं का विवेचन करते हुए ग्रहों की गति, मास, अधिमास आदि भेदों का निरूपण किया गया है। इसी निरूपण को आचार्य वराहमिहिर ने 'पैतामह–वसिष्ठ–रोमक–पौलिश और सौर नामक विद्वानों के विचारों को उपस्थित कर "पञ्चसिद्धान्तिका" नामक ग्रन्थ की रचना की है। ज्योतिषाचार्य आर्यभट्ट ने भी इसी सिद्धान्त स्कन्ध के गणित सिद्धान्त का स्पष्टीकरण 'आर्यभटीयम्' नामक ग्रन्थ में किया है।

(2) संहिता स्कन्ध – समष्टि का अध्ययन करके फल सूचित करने वाले भाग को संहिता स्कन्ध नाम दिया गया है। इसमें गणित–फलित दोनों का समन्वय है। आचार्य वराहमिहिर ने 'बृहत्संहिता' नामक ग्रन्थ में गर्ग, पराशर, असित, देवल, कश्यप, भृगु, वसिष्ठ, बृहस्पति आदि अनेक विद्वानों के मन्तव्य की चर्चा की है। नारद संहिता भी इसी स्कन्ध के अन्तर्गत आता है।

(3) होरा स्कन्ध – व्यष्टि का अध्ययन कर, उसके अनुसार फल निर्देशन करनेवाला भाग होरा–स्कन्ध कहलाता है। पाराशर होराशास्त्र, बृहज्जातक, प्रश्नतन्त्र, सामुद्रिक शास्त्र, स्वरोदय तथा स्वप्न विज्ञान इसके विभाग ग्रन्थ हैं।

आज आवश्यकता है कि इस वेदाङ्ग के समुचित शोध व अध्ययन की, जिससे हम वेद का सम्यक् निर्वचन व अनुशीलन कर सकें। ❑

स्वर्ग–नरक कहाँ ?

आचार्य श्याम

कहते हैं कि एक बार ब्रह्माजी ने नारदजी से पूछा कि – 'आप नरक में जाना चाहेंगे या स्वर्ग में ?' नारद जी ने कहा – 'भगवन् ! मैं नरक में ही जाना चाहूंगा।' ब्रह्मा जी ने नादरजी को नरक में भेज दिया।

एक बार कोई ब्रह्माजी का अनुचर ब्रह्माजी से मिलने आया। ब्रह्माजी के भवन में पहुंचने से पूर्व उसने भवन की दीवार पर स्वर्ग और नरक में जाने वाले लोगों की सूची देखी। जब उस अनुचर ने नरक की सूची में नारद जी का नाम देखा तो उसे आश्चर्य हुआ। उसने अन्दर जाकर ब्रह्मा जी से आश्चर्यजनक मुद्रा में पूछा – 'भगवन् ! मैंने बाहर नारदजी का नाम नरक में जाने वालों की सूची में देखा, कृपया आप मुझे बतायें कि नारदजी किस पाप के कारण नरक में गये हैं ?' इस पर ब्रह्माजी ने अपने अनुचर से कहा– 'वत्स ! मैंने नारद जी को किसी कुत्सित कर्म के फलस्वरूप में नरक नहीं भेजा, अपितु उनकी इच्छा से भेजा है। तुम स्वयं ही जाकर नारदजी ने पूछ लो कि उन्हें नरक में रहने का विचार क्यों आया ?' इस उत्तर को सुनकर वह अनुचर नरक में नारदजी से मिलने पहुंच गया और उसने नारदजी ने नरक में रहने का कारण पूछा। तब नारदजी ने कहा – 'पुत्र ! जैसा व्यक्ति जिस स्थान पर रहता है, उसको वह वैसा ही कर देता है। मैंने देखा कि सभी पापी स्वर्ग में जाना चाह रहे हैं, जब वे सभी पापी लोग स्वर्ग में पहुंच जायेंगे तो वे स्वर्ग को भी नरक बना देंगे। इसलिये मैंने यह विचार किया कि मैं नरक में जाकर वहां के लोगों का सुधार करूं, जिससे उनके जीवन में परिवर्तन आये और वे अपने सुकर्मों से उस नरक को स्वर्ग में बदलने का कार्य कर सकें।'

इस उत्तर को सुन वह अनुचर चुपचाप लौट आया और बार–बार यह विचार करने लगा कि सत्य है कि – श्रेष्ठ व्यक्ति यदि बुरे स्थान पर जायेंगे तो वह अपने श्रेष्ठ कर्मों से उस स्थान को भी श्रेष्ठ बना देंगे। ❑

हींग - एक प्रकृति प्रदत्त महौषधि

नन्दकिशोर शर्मा
(भिषगाचार्य)

हींग प्रकृति प्रदत्त एक अमूल्य औषधि रत्न है, जो प्राणी मात्र के लिये परम उपयोगी है। कोई विरला ही व्यक्ति ऐसा होगा, जो इससे भली भांति परिचित न हो। किन्तु फिर भी इसके अनुभूत चमत्कारिक गुणों से अधिकांश मनुष्य अपरिचित ही है, अतएव इसके फलप्रद गुणों का दिग्दिर्शन होना परम आवश्यक प्रतीत होता है। अस्तु..।

हींग के प्रकार -

हींग दो प्रकार की होती है - **सुगन्धित** और **दुर्गन्धित।** सुगन्धित हींग सुगन्धयुक्त स्वादु और उत्तम वर्ण वाली होती है तथा दुर्गन्धित दुर्गन्ध और लाल वर्ण की होती है। इसकी उत्पत्ति के विषय में अनेक मत प्रचलित हैं। कुछ का मत तो यह है कि हींग अंजुदान वृक्ष का गोंद होता है और कुछ इसे अंजुदान वृक्ष के पत्तों का रस मानते हैं। किन्तु वास्तव में यह एक प्रकार का कन्द घन किया हुआ रस है, जो अफगानिस्तान आदि प्रदेशों में उत्पन्न होता है। जिसके कारण अफगानी लोग इसका व्यापार खूब करते हैं और सैकड़ों मन की तादाद में इसे लाकर नगर-नगर में बेचते फिरते हैं। प्रायः ये लोग ग़न्दी वस्तुओं को मिलाकर बनावटी हींग को असली हींग के नाम से भी बेच जाते हैं। इनकी मिलावट इतनी बारीक होती है कि प्रत्येक मनुष्य असली-नकली के भेद को नहीं पहचान सकता है। अतएव आजकल अधिकांश बनावटी हींग ही अधिक व्यवहृत हो रही है, जो लाभ के स्थान में हानिप्रद होती है।

उत्तम हींग की पहचान -

प्रारम्भ में जब यह आती है तो मधु के समान मुलायम और दूध के समान श्वेत वर्ण वाली होती है। सूखने के पश्चात् अपनी भूमि के अनुसार वर्ण वाली हो जाती है। इसका वर्ण सुर्खी लिये हुए पीला तथा सफेद होता है। शुद्ध हींग चमकदार सुगन्धयुक्त तथा स्वाद में कटु कषाय तिक्त रस वाली होती है। शुद्ध और उत्तम हींग दियासलाई से जलाने पर कपूर की भांति जलने लगती है। जलाने से पूर्व यह देखना चाहिये कि उसमें किसी चिकने पदार्थ का सम्पर्क तो नहीं है; क्योंकि बेचने वाले इस परीक्षा को साबित करने के लिये तेल-घृत आदि पदार्थों में भिगो लेते हैं। अतएव अच्छी तरह परीक्षा करने पर ही इसे खरीदना चाहिये।

प्रभाव -

जब उदर में आहार-विहार के कारण दूषित मल इकट्ठा हो जाता है और सड़ने लगता है, तब पेट में कृमि उत्पन्न हो जाते हैं, और यही कृमि कालान्तर में पाण्डु, रक्त-स्वल्पता आदि भयङ्कर बीमारियों की सृष्टि करते हैं तथा जब

भयङ्कर कोष्ठबद्ध और वायु के रोग उत्पन्न हो जाते हैं; ऐसी हालत में हींग का प्रयोग अत्यन्त लाभकारी होता है। इसके प्रभाव से कृमि नष्ट हो जाते हैं और दूषित मल पचकर बाहर निकल जाता है। शरीर स्वस्थ होने लगता है, अग्नि तेज हो जाती है, खाया हुआ आहार भलीभांति पच जाता है, जिसके कारण रस-रक्तादि धातुओं की भी उन्नति होती है। कहा भी है –

सहस्त्रवेधि जतुकं बाह्लीकं हिंगु रामठम्।
हिंगूष्णं पाचनं रुच्यं तीक्ष्णं वातबलासनुत्॥
शूलगुल्मोदरानाहकृमिघ्नं पित्तवर्द्धनम्।

(भावप्रकाश 100-101)

अर्थात् – सहस्त्रवेधि, जन्तुक, बाह्लीक, हिंगु, रामठ – यह सब हींग के नाम हैं। हींग उष्ण वीर्य, पाचक, रुचिकर, तीक्ष्ण, वात-श्लेष्म को दूर करने वाला, शूल, गुल्म, उदर सम्बन्धी रोग, अनाह (अफारा) और कृमियों को नष्ट करनेवाली तथा पित्त को बढ़ाने वाली है।

– प्रयोग विधि –

(क) कौड़ी प्रदेश के शूल पर – दो-दो रत्ती उत्तम हींग मुनक्का में रखकर गरम पानी के साथ देने से अवश्य लाभ होता है। आवश्यकता प्रतीत होने पर एक घण्टा पश्चात् इतनी-सी मात्रा इसी विधि के साथ एक बार फिर दी जा सकती है।

(ग) गुल्म तथा प्लीहा पर – आधी छटांक हींग को एक पाव मधु में खरल कर सुखा लो। मात्रा दो-दो रत्ती मख्खन में रखकर खाना चाहिये। इससे गुल्म तथा प्लीहा और पेट दर्द नष्ट हो जाता है।

(ख) वात शूल पर – उत्तम हींग डेढ़ माशा लेकर एक पौण्ड पानी में डालकर उबालें। जब डेढ़ औंस शेष रह जाये तो पिला दें; यह अत्यन्त लाभदायक है।

(घ) अफीम के विष पर – उत्तम हींग और मिर्च समान भाग लेकर कूट-पीसकर मधु में मिलाकर रख लें। इसे 3 रत्ती मधु के साथ खाने से अफीम का विष नष्ट हो जाता है।

(ङ) मूत्रावरोध पर – एक रत्ती उत्तम हींग, एक औंस सौंफ के साथ आधे घण्टे पश्चात् पिलावें और पेडू पर कंसू के फूलों की पोटली से सेंक करना चाहिये।

(च) कर्ण शूल पर – शुद्ध तिल का तेल आधा पाव लेकर उसमें तीन माशा हींग को उसी में मिलाकर रख लेवें। इसकी छः-सात बूँद कान में डालने से कर्ण शूल नष्ट हो जाता है।

(छ) दन्त शूल पर – जब दाढ़ या दांत खोखले हो जावें और उनके उस खुक्खल भाग में जब दर्द मारने लगे तो शुद्ध हींग को खोखले भाग में रखना चाहिये। इससे दर्द बन्द हो जाता है।

(ज) इन्द्रिय की शिथिलता पर – सोते समय, जल में हींग पीसकर सीवन पर सुपारी को छोड़कर शिश्नेन्द्रिय पर लेपकर, प्रातः गरम पानी से धो डालें। 21 दिन के प्रयोग से हस्तमैथुनादि से प्राप्त नपुंसकता नष्ट होती है। सेवनकाल में पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहें और विचार पवित्र रखें। नम्बर दो की हींग पानी में घोल, कमरे में छिड़कने से संक्रामक रोग नष्ट हो जाते हैं।

(झ) हैजा पर – हींग और आक की जड़ के बक्कल को समान भाग लेकर माष

प्रमाण की गोली बनावें। मात्रा दो से चार गोली तक। इसे पोदीना के स्वरस के साथ देने से हैजा नष्ट हो जाता है।

उदर विकारों पर हिंग्वाष्टक चूर्ण। सोंठ, मिर्च, पीपल, काला तथा श्वेत जीरा, अजवायन, अजमोदा तथा सेंधा नमक - इन सबको बराबर लेकर, कूट-पीसकर कपड़छन कर लें। इसमें छः माशा भुनी हुई हीरा-हींग मिला देवें। यह चूर्ण समस्त उदर विकारों को नष्ट करने में रामबाण है। मात्रा तीन माशे से छः माशे तक पानी के साथ इस्तेमाल करना चाहिये।

हिंग्वाष्टक चूर्ण एक प्रभावशाली चमत्कारिक प्रयोग है। एक आटा पीसनेवाले व्यापारी प्रायः एक मैदे की सी लकड़ी भी साथ मिलाकर पीस डाला करते थे। उससे उनको पर्याप्त लाभ हो जाया करता था। परन्तु उपभोक्ताओं को डिसेन्ट्री या पेचिश हो जाती थी। एक रोगी हमारे पास आया, जो डाक्टरों से निराश हो चुका था। उसे रक्त मिश्रित लाल-सी आंव बूंद-बूंद रक्त, कुंथन कूल्हों में दर्द दिनभर लगा रहता था, घड़ीभर चैन नहीं था। मुख का स्वाद अति कटु, नमक तक कडुवा लगे। इस परिस्थिति में वह मृत्यु की चुनौती स्वीकार कर रहा था, हमने उसे धीरज बंधाया और कहा कि तुम आयुर्वेद की कृपा से अवश्य ही रोग-मुक्त हो जाओगे।

हमने मूल कारण का निदान करके दिन में 5 बार हिंग्वाष्टक चूर्ण मख्खन मिलाकर चटाया। पथ्य में खिचड़ी, दही व फुलका दिये गये, 8 दिन में रोगी स्वस्थ हो गया। ❐

सच्चा भक्त कौन ?

आचार्य श्याम

एक बार एक प्रसिद्ध मन्दिर में नवरात्र-पूजा की विशेष मान्यता थी। जैसे ही चैत्र-नवरात्र के दिन प्रारम्भ हुए कि प्रातः से ही मन्दिर में भक्तों की भीड़ जुटनी प्रारम्भ हो जाती। एक साधु सैर के लिए प्रतिदिन उस मन्दिर के सामने से निकलता, जब उसने देखा कि नवरात्र पर भक्तों की कुछ भीड़ ज़्यादा ही उमड़ रही है तो वह साधु अगले दिन प्रतिदिन से कुछ जल्दी सैर के लिए निकला। मन्दिर के सामने से जैसे ही उसका निकलना हुआ कि उस साधु ने देखा कि हड़बड़ाहट में एक आदमी ने पूजा के लिए मन्दिर में प्रवेश किया है। साधु ने सोचा कि मुझे अन्दर जाकर देखना चाहिए कि भक्तलोग आजकल किस प्रकार से पूजा करते हैं। मन में विचार आते ही साधु ने भी मन्दिर परिसर में प्रवेश किया। उसकी दृष्टि सबसे प्रथम उस व्यक्ति पर ही पड़ी जो उस दिन सबसे पहले पूजा करने के लिए मन्दिर में आया था। साधु चुपचाप उस व्यक्ति के पीछे जाकर खड़ा हो गया। यह व्यक्ति देवी की मूर्ति के सामने हाथ जोड़कर खड़ा होकर प्रार्थना करने लगा - 'मां ! मैं प्रतिदिन बहुत पाप करता हूं, मां ! मुझे क्षमा करो।' साधु ने जब इस भक्त की प्रार्थना सुनी तो उसके मन में विचार आया कि ये वास्तव में सच्चा भक्त है जो अपनी भूल को स्वयं ही स्वीकार कर रहा है। जैसे ही वह व्यक्ति घर जाने के लिए पीछे की ओर मुड़ा तो उसने देखा कि एक साधु उसके पीछे खड़ा है। वह व्यक्ति घबड़ा गया और बोला - 'महाराज ! आपने मेरी प्रार्थना को तो नहीं सुना ?' साधु बोला - 'हां, मैंने सुना तो था, मुझे लगा कि तुमसे अधिक सच्चा भक्त शायद ही अन्य कोई हो; क्योंकि तुम अपनी भूल का स्वयं पश्चात्ताप कर, क्षमा याचना कर रहे हो। मैंने ऐसा पहली बार देखा है कि तुम जैसा भक्त अपनी ग़लतियों के लिए क्षमा मांग रहा है।' इस पर उस व्यक्ति ने कहा - 'महाराज ! मैंने जो प्रार्थना की है, यदि आपने उसे सुना है तो आप किसी के समक्ष मेरी प्रार्थना की बात मत कहना, अन्यथा लोग न जाने मेरे विषय में क्या-क्या सोचेंगे ?' साधु से मौन स्वीकृति पाने के बाद यह व्यक्ति घर चला गया, पर साधु ने मन ही मन विचार किया कि - 'मनुष्य कितना मूर्ख है कि वह समाज से डरता है, पर भगवान् से नहीं। काश ! ये भगवान् से डरने लगे तो पाप ही क्यों करे ? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जो मनुष्य समाज के लोगों के सामने सच्चाई नहीं रख सकता, फिर भला वह भगवान् के प्रति तथा अपने कार्य के प्रति सच्चा कैसे हो सकता है ?' ❐